

विचार और विश्लेषण

लेखक

डा० नगेन्द्र

एम ए डी लिट्

नेशनल पब्लिशिंग हाउस

नई सड़क - विस्ती

जुलाई १९५५

सूक्ष्म
पाष रपए

सूक्ष्म
दिप्ती प्रिटिंग प्रेस
बरीम रोड
पिन्नी

निवेदन

समालोचक के लिए स्फुट विवेचनात्मक निबंध लिखना प्रायः उसी प्रकार अनिवार्य-सा हो जाता है जिस प्रकार प्रबंध कवि के लिए गीत रचना आत्मानिष्पत्ति के लिए अधिक भवकाश होन के कारण उनमें सूजन-तत्त्व अधिक रहता है। अतएव धरने व्यवस्थित आलोचन-काय से समय निकाल कर मैं भी आरम्भ से ही स्फुट निबन्ध रचना करता रहा हूँ। इस प्रकार के निबंधों का यह हीसरा सकसन है। विचार छीनों में सामान्य रूप से अस्तमूर्त है धनुमूति से विवेचन और विवचन से विद्वेषण की ओर प्रयाण प्रौढ़ि का घातक है या प्राण-शक्ति के ह्रास का—यह निर्णय तो पाठक ही करग परन्तु मैंने स्वयं यही प्रयत्न किया है कि प्राण-रस मूर नें न पाये।

प्रस्तुत संग्रह के एक-शे निबंध पुराने हैं उनकी रचना आज से लगभग दस वर्ष पूर्व हुई थी किन्तु उनके विषय पुराने नहीं पड़े इसलिए उनका भी समावेश कर लिया गया है। कुछ निबंध प्राणिक रूप में आकाशवाणी से प्रसारित हो चुके हैं।

२०१२, आषाढस्य प्रथम तिथिसे
हिन्दी विभाग
विस्नो विश्वविद्यालय,
दिल्ली।

—नगेन्द्र

अनुक्रमणिका

खण्ड १ विचार

| | |
|--|-----|
| १ ✓ साहित्य के मानदण्ड | १ |
| २ हिन्दी का अपना आलोचना-शास्त्र (सम्भावनाएँ) | ४ |
| ३ अनुसंधान का स्वरूप | १३ |
| ४ केशवदास का भाषायत्व | १३ |
| ५ बिहारी की बहुमता | १६ |
| ६ सुसुखी और नारी | २३ |
| ७ राम भाषा का गद्य (दोना साहित्य) | ५१ |
| ८ फारुख और हिन्दी-साहित्य ✓ | ५८ |
| ९ कामायनी में रूपक-तत्व ✓ | ६५ |
| १० कहानी और रेखाचित्र ✓ | ७५ |
| ११ पत जी की भूमिकाएँ | |
| (क) पत्सव का प्रवेद्य | ८७ |
| (ख) गद्य-पद्य | ९९ |
| १२ नव निर्माण साहित्य की व्यापकता के उपादान | १०३ |
| १३ मेरा व्यवसाय और साहित्य-सृजन | १०६ |
| १४ बीबी एक सस्मरण (स्वर्गीया बहिन होमवती देवी) | ११५ |

खण्ड २ विश्लेषण

| | |
|---|-----|
| १ जय भारत | १२९ |
| २ कृदक्षय | १३५ |
| ३ 'हिमकिरीटिनी' और 'वासवदत्ता | १३६ |
| ४ इरावती | १४२ |
| ५ सुप्तान | १५० |
| ६ 'बोस्ला से गंगा' और 'बिल्समुर बकरिहा' | १५५ |
| ७ हिन्दी साहित्य का प्रादिकाल | १६३ |
| ८ भगवतीचरण बर्मा के काव्य रूपन | १६७ |

खण्ड १ : विचार

एक साहित्य के मानदण्ड

मानदण्ड और मुख्य धारि सम्बन्ध मूलतः साहित्य के सम्बन्ध नहीं हैं—पारम्परिक प्रामोचन-शास्त्र में भी इनका समावेश धर्म-शास्त्र अथवा वैदिक-शास्त्र से किया गया है। जीवन में नैतिक-धार्मिक प्रमाण की कृति होने से धार्मिक सम्भावना का भी प्रबोध धर्म क्षेत्रों में होने लगा। स्पष्ट तथ्य-परक विषयों के प्रतिरिक्त सूक्ष्म तथ्य-परक विषयों के भी मुख्य और मानदण्ड या मापदण्ड होने लगे। भारतीय काव्य-शास्त्र में स्थिति इसके विपरीत थी—यहाँ की दृष्टि मूलतः धर्मशास्त्र-परक होने से यहाँ धार्मिक या धर्मशास्त्रिक (मेटाक्रिमीकल) सम्भावना का प्रमाण था। साहित्य के मानदण्डों का विवेचन यहाँ साहित्य अथवा काव्य की 'आत्मा' और काव्य के प्रयोजन की चर्चा के अन्तर्गत किया गया है। आत्मा का अर्थ है आचार तथा प्रयोजन का अर्थ है उद्देश्य और ये ही दो तत्व किसी वस्तु के मानदण्ड या मुख्य का भी निर्धारण करते हैं—अतएव यहाँ आत्मा और प्रयोजन के विवेचन में मानदण्ड का विवेचन स्वयं रूप से निहित है। काव्य की आत्मा रस है ध्वनि है अलंकार अथवा शब्दा है—इसका तर्क-मामूल निरूपण कर भारतीय आचार्य ने ध्वनिता से यह भी स्पष्ट कर दिया कि काव्य का मूल तत्व क्या है जो काव्य के काव्यत्व को सार्थक करता है—यही काव्य की कमीटी या मानदण्ड भी था। परन्तु आत्मा के विवेचन में भारतीय आचार्य काव्य-शास्त्र की परिधि से बाहर नहीं गया। उस ने द्वारा अनुसूति-तत्व को ध्वनि के द्वारा चल्पना-तत्व को—छोटे के छोटे में अनुसूति-तत्व को और शब्दा अथवा अलंकार के द्वारा अभिव्यञ्जना—और स्पष्ट शब्दों में अभिव्यञ्जना जीवन को काव्य का आचार-तत्व और स्वयं रूप से मूल मान पोषित करता हुआ वह काव्य-शास्त्र की परिधि में ही रहा। हाँ काव्य के प्रयोजन में उसने जीवन की विलुप्त भूमि में पधारण किया और अनेक प्रयोजनों की चर्चा की जिनमें से कुछ वैयक्तिक थे—कुछ सामाजिक। उदाहरण के लिये आनन्द और शैक्षिक विषय अतिरिक्त मिथियाँ थीं। आनन्द को प्राचीनतर आचार्यों ने—आमह और कामन धारि ने—श्रीति तथा कुम्भक धारि परवर्ती आचार्यों ने बाह्य अथवा

बमत्कार कहा और शैक्षिक विकास के लिए भारत में बुद्धि-विकास का प्रयोग किया जिसके अन्तर्गत मामूह का कला-वैशिष्ट्य भी आ जाता है। उभर बर्म का काम मोक्ष—इन चार पुरुषार्थों की सिद्धि और मोक्षोपदेश चादि सामाजिक प्रयोजन से। इस प्रकार अपने ढंग से हमारे आचार्य ने भी काम्य की वैयक्तिक तथा सामाजिक दोनों प्रकार की ही सिद्धियों का काम्य प्रयोजन के अन्तर्गत समावेश कर लिया था। स्वान्त-मुक्त और मोक्ष-हित दोनों के प्रति यह धारणा से ही जागरूक था हममें कन्वेह नहीं किन्तु यह भी सत्य है कि इन दोनों के सापेक्षिक महत्त्व के विषय में भी उसे कोई आशङ्क नहीं थी। ध्यान को इसीलिए उद्योग निम्नलिखित शब्दों में मध्यम-अपारजित-जीमिभूत कहा है। कुत्तन की निर्भीक बोधणा है

अतुर्बागकलास्वादेशमध्यतिक्रम्य तद्विचाम् ।

काध्यामुत्तरसेनास्तद्व्यक्तकारी वितग्यते ॥

जिसका भावार्थ यह है कि काव्यामुत्तर रस का बमत्कार अतुर्बागकलास्वादेश से भी बढ़कर है।

बहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय काम्य-शास्त्र के अनुसार काम्य की धारणा ध्यान-रूप रस और मूल प्रयोजन ध्यान माना गया है—और स्वयंसा में यही उद्योग मानस्य या ध्यानरूप मूल्य भी है।

पाठशास्त्र काम्य-शास्त्र पर काव्योत्तर मूल्यों का महापाठ बहुत पहले ही हो गया था। वही भीति-शास्त्र मनोविज्ञान राजनीति और सब विषयों में सर्व शक्ति चादि के ध्यान के फलस्वरूप अनेक मूल्यों का आरोध काम्य पर होता रहा है। साधारणतः वहाँ भी दो मूल्यों में इन्हें रखा है (१) लीखकूलक और (२) उपयोवितामूलक—जिनका पर्यवसान ध्यान ध्यान और मोक्ष-हित में होता है। इन्हीं का लक्ष्य परिश्रम के लीखकशी समावादी मनोवैज्ञानिक और लयाव वाली ध्यानोक्त अनुभवे रहे हैं।

हमारा मन है कि उपर्युक्त दोनों ध्यानरूप परम्पर-विवाची न होकर एक दूसरे के पूरक ही हैं। ध्यान और कल्याण को परम्पर विरोधी मानना धर्मधन है परन्तु इन दोनों में सापेक्षिक मूल्य ध्यान का ही अधिक है। ध्यान की धारणा परिधि में दिन की मानना धर्मधन है और दिन की परिधि में भी ध्यान ही है। ध्यान में दिन की मानना धर्मधन है बुद्धि का माध्य है वही ध्यान ध्यान के माध्य है। ध्यान के माध्य होने के कारण ही रस को ध्यान माना गया है। धर्म रस विषय में रस ध्यानरूपी में ध्यान रस का त्याग करने हुए भी बुद्धि का लक्ष्य (निष्कर्मदाशुभान्नाम रसधर्म) को ध्यान

साहित्य के मानदण्ड

का धर्मिय मूल्य मान कर अन्त में जेतना ने इमी लगनमता-रूप ध्यान को ही प्रकारान्तर से स्वीकार कर लिया है। इपर धात्राय मुक्त की 'हृषय की मुक्त-बला' सम्भावनी की भी ध्यान से मिल स्थिति नहीं है क्योंकि यह धरला बदि धमाकारक है तो अपूर्ण और लम्बातुल्लि है और यदि माकारक है तो मान्य के प्रतिरिक्त और कोई नाम इसे नहीं दिया जा सकता।

रस की कल्पना बलुठ धरला व्यापक धामार पर की गयी है प्राय की सम्भावनी में उसका पुनरुत्थान कर प्राधुनिक काव्यालोचन के सभी मान उसकी परिधि में धा जाते हैं। यूरोप के प्राधुनिक सौंदर्यवादियों की भाँति यह जीवन में धरलुठ नहीं है—यह तो जीवन के स्थायी भावों पर ही मूलत निर्भर है। नैतिक मूल्य भी अपने उदात्त रूप में रस में धरलुठ है क्योंकि रस-सिद्धान्त मोति-विरोधी नहीं है—नीति-विरोधी तरलों को रमासाध रूप में धमिधमित्त र यह जीवन के स्वस्व-नैतिक दृष्टिकोण का पोषण करता है। उरल के उर्रेक को रस-परिपाक का धमिधार्य उपबन्ध मान कर रस-सिद्धान्त ने उदात्त नैतिक मूल्यों का प्रबल समर्थन किया है। जीवन के नैतिक मूल्य ही बहिर्मुख होकर धरली स्तुतता में उपयोगितावादी मूल्य बन जाते हैं। काव्य का रस चित्त-वृत्तियों का परिष्कारण और समर्थन करता हुआ धरली चरम उपयोगिता मिठ करता है—यै भी ध्यान से धमिक उपयोगी तरल की कल्पना मान्य-मन कदाचित् धरनी नहीं कर सका। मानववाद के बिवास के पलस्वरप पस्किव के काव्य-सास्त्र नीर उसके प्रभाव म हमारे काव्य-शास्त्र में भी मान्य-मूल्यों का समावेश हुपा जाय-मूल्य निस्सन्देह जीवन के चरम मूल्य है—मान्यता में धमिक मान्य-जीवन । मानदण्ड क्या हो सकता है? भारतीय रस-शास्त्र प्राय में सह्य वर्ष पूर्व अपने साधारणीकरण सिद्धान्त में इन्ही मान्य-मूल्यों को स्वीदृष्टि देकर धरनी सार्ध मौमता एवं सार्धकालिगता मिठकर चुका है। धरलुठ मेरा चित्त मठ है—साहित्य का चरम मान रस ही है जिमकी धरलुठता में ध्यष्टि और ममिष्टि मोर्ध्व और उपयोगिता शास्त्रत और सापेक्षिक का धरतर मिठ जाता है धरलुठ कथित मान या तो रस के लक्षणी व्याख्यान है या चिन् धरलाहित्यत मान है जिनका धायेन साहित्य के लिए धरलुठकर है।

पश्चिम या पश्चिम से अधिक प्रजाति का राष्ट्र के आधार पर पूरक अध्ययन कर लीजिए, परन्तु एक ही राष्ट्र की समान-मातृका मायाया में उसे बाँटना तो निरासन्न अनुचित होगा। किन्तु यह बात नहीं है। हमन जैसा कि मैंने अभी मँजठ किया है सत्य की उपलब्धि मात्र नहीं है उसका अनुसन्धान भी ता है—यों कहना चाहिए कि अनुसन्धान ही पश्चिम है क्योंकि उपलब्धि क उपरांत तो बाणी मीन हा जाती है। अनुसन्धान की प्रक्रिया सर्वथा विचकासावधिपन्न नहीं हा सकती क्योंकि अनुसन्धाना की अपनी सक्ति-सीमा तथा परिस्थिति का उस पर गहरा प्रभाव पड़ता है। सत्य की उपलब्धि ता सामान्य रहती है और रहेगी किन्तु उस उपलब्धि के लिए अनुसन्धान को प्रक्रिया विधिपट ही हाती है। इसी विधिपटता क आधार पर वर्तन प्रकथा काव्य-वर्धन क विधिपट रूप की परिष्क्यता करना तकहीन नहीं है। संस्कृत और पँचवी म हिन्दी का अपना स्वतन्त्र काव्य है घट-उमर्न माध्यम त सत्य के अनुसन्धान की प्रक्रिया भी स्वतन्त्र हो सकती है—दुगने शब्दों में हिन्दी का अपना स्वतन्त्र काव्य-शास्त्र हो सकता है।

दूसरा प्रश्न स्वभावतः यह उठता है कि क्या हिन्दी में इस प्रकार का अपना कोई स्वतन्त्र काव्य-शास्त्र विद्यमान है? हिन्दी में काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों का प्रभाव नहीं है। ऐतिहासिक म पूरि हा शताब्दियों तक निरन्तर रीति-ग्रन्थों की रचना हाती रही और सहस्रावधि ग्रन्थ प्रकाश म घाण-प्राधुनिक युग में भी जनजन धर्म-संतावरी से इस क्षेत्र में जनकरण काय हा रहा है जिसका फलस्वरूप वर्तमान काव्य-शास्त्र-ग्रन्थ भी कम संख्या में उपलब्ध नहीं है। ऐति-युग में जहाँ केवल विन्दासिणि, कुलपति देव भीपति मोमनाथ दास और प्रतापसाहि जैसे शर्ला विवेकक प्राचार्य हुए, वहाँ प्राधुनिक युग में भी पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी से लेकर प्राचार्य रामचन्द्र शुक्ल तक अनेक उभूट विद्वानों म इस धङ्ग की धोबुडि की है और आज भी मेरी कारण है कि हिन्दी साहित्य का सबसे पुष्ट धङ्ग आलोचना ही है। प्राचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विषय में कहाचित यह जहना धलुक्ति नहीं होनी कि उनके समान मजाही आलोचक किमी भी प्राधुनिक भार-तीय भाषा में नहीं है। परन्तु प्रश्न परिभाष का नहीं है दुगन का भी नहीं है—प्रश्न यह है कि क्या इन ग्रन्थ-समुदाय पर धाबुत हिन्दी काव्य-शास्त्र का संस्कृत और वर्तमान दुग में पँचवी प्रकथा अधिक-से-अधिक मूधपीय काव्य-शास्त्र में स्वतन्त्र धस्तित्व है? इस प्रश्न के उत्तर में सहना 'हाँ' ! कहना कठिन है क्योंकि ऐति-युग का विवेचन इन्ही भग्गत विरचनाय और धानुवत धारि का ही उन जीरी है। दुगनायाय अध्ययन म इसमें सन्देह नहीं रह जागा कि हिन्दी के ऐतिहासिक में परम्परागत काव्य-शास्त्र के विकास में भी कोई विरय बोधदान

नहीं किन्तु स्वतन्त्र वाक्य-साम्बन्ध के निर्माण का ता कहना ही क्या ? इनके विद्वानों द्वारा प्रस्तुत विरक्षेपण इस बात के धारणा है कि हिन्दी रीति-रिवाजों में यदि कहीं कहीं प्रचलित रचनाएँ विशेषतः हल्किस्त भी हलना है ता वह या ता किन्ही प्रयत्नमिल सम्पूर्ण-सम्बन्ध में ही मिल जाता है वा घाने घाय न तन्मय निरु हा जाता है वा हिन्दी-रीतिकार की धारणा वा परिष्कार मात्र है । अतमान काव्य-शास्त्र-ग्रन्थों में घानेक घाघाय हिन्दी के उदाहरण नर देन में प्रयत्न रहे हैं । उनके लक्षण घायि ता नरुण मे उद्भूत है ही उदाहरण भी ससुन उदा हरणा के ही प्रनुवार है । ऐसी स्थिति में हमारे साहित्य में ऐसा क्या है जिसे हम हिन्दी वा घाना काव्य-साम्बन्ध कह सकें ? — हमसे उन्नेह मरी कि इन घाना कता में बहुत-बुद्ध तन्मय है परन्तु हलिकाल मे बाधा-ना परिष्कार कर देने मे चिन इतना विरुद्ध नहीं रहे जायेगा । वास्तव में हिन्दी रीति-शास्त्र का मूल्यांकन करना हुए घाय भी हम संसुन काव्य-शास्त्र के मानक्यों का प्रबोध करते हैं—यह भी उनी मूस की पुनरावृत्ति है जो हमारे प्राय सभी प्राचीन तथा घनक नवीन रीतिकारों में की है घायि नरय और लक्षण की प्रयत्नि । संसुन में लरय काव्य और लक्षण-ग्रन्थों में पूरा सामन्तव वा मानह बासन घानरुवर्षन तथा कुम्भ घायि में घाने निरुक्षण-विशेषन वा घाघार उपलभ्य काव्य का ही बनाया वा । उरुहने वाले निरयन घीनी का प्रयत्नमय किवा ही वाहू घायन घीनी वा, परन्तु संसुन काव्य वा घाघार नहीं नहीं छोडा—इसीलिये उनसे लक्षण और लरय के बीच प्रायघ तथा जीवन्त लरयके घाघरुत बना रहा जिन्ने उरुन काव्य-शास्त्र का नहि-अह नहीं होल दिया । हिन्दी वा रीतिकार इनी जीवन्त संसुन-मूस को नहीं परह पाया परिष्कार यह हुभा कि वह प्राचीन लक्षणों वा प्रनुवार कर उनकी निरु के लिए बने उदाहरण रचना रहा । इन प्रकार मारा काम ही घनट गया—घाघरयक यह वा कि वह हिन्दी में उरुलभ लरय काव्य के घाघार कर निरयन घीनी के लक्षण रचना करना वा हिन्दी काव्य के घाघार कर संसुन निरुक्षणों वा परीक्षण एव पुनरावृत्त करना परन्तु यह लक्षण वा निरु करने के लिए लरय की रचना करना गया । घाय हम फिर इनी हलिके हिन्दी रीति-शास्त्र वा मूल्यांकन कर घनी मूस की घायुति कर रहे हैं—परिष्कार यह हाता है कि उनसे जो बोधा-बहुन घरना है वह भी संसुन काव्य-शास्त्र वा नवीनी कर लमन मे उरुक्षण वा निरुक्षण हो जाता है घोर हम लयना है कि हमारे पास कुछ नहीं है ।

परन्तु स्थिति इतनी बदनीय नहीं है । हिन्दी के प्राधान तथा नवीन काव्य में—घोर काव्य-शास्त्र में भी इतनी माबकी निरुय ही विद्यमान है कि उरु

भाषार पर हिन्दी न अ्यन विविष्ट काव्य-शास्त्र के अस्तित्व की परिष्कृतता असागत नही कही जा सकती कम-स-कम हिन्दी के पास इतना मूलभूत अ्यस्य विद्यमान है कि उसके भाषार पर एक अ्यथे काव्य-शास्त्र का निर्माण किया जा सकता है जो संस्कृत तथा अ्यग्रेवी का उपजीवी न होकर हिन्दी की अ्यनी अ्यमति है। मैं कुछ उदाहरण देकर अ्यनी अ्यापना को पुष्ट करता हूँ। पहले लक्षण अ्यनों को ही लीजिए—इसमें अ्यदेह नही कि हमारे अ्यधिकीम लक्षण-अ्यथ संस्कृत अ्यसंकार-शास्त्र वा कवि-सिद्धा-अ्यनों के ही उपजीवी है परन्तु उनमें ऐसी अ्यर्याप्त सामग्री है जो नई है उदाहरण के लिए रस अ्यवा अ्यमार रस क साधनीम महत्त्व की अ्यतिष्ठा अ्यसी हिन्दी में है अ्यसी संस्कृत में नही है। संस्कृत का माध्य सिद्धान्त समग्रत अ्यनि ही रहा है अ्यानन्दअ्यन अ्यमित्त अ्युत मम्मट तथा अ्यञ्जितराज अ्यगन्नाथ न अ्यनि को अ्यसंभ्रमुत्थ-अ्यम्यस सता स अ्यचित कर दिया था और रस अ्यसंकार अ्यदि उसी के अ्यनीतत्त्व हो अ्यये अ्ये। हिन्दी रीति-शास्त्र का अ्यसंभ्रमुत्थ सिद्धान्त रस ही हुआ रीति अ्युत न अ्यमार रस की ऐसी अ्यहसंभ्रमुत्थ अ्यवाहित हुई कि अ्यनि अ्यसंकार अ्यदि उमम अ्यिमम हो अ्यये—अ्यही अ्यमारवाय के अ्यम न एक अ्यथक अ्यम्यवाय ही उठ अ्यठा हुआ। अ्यथ अ्यने कि अ्यमार के रसराजत्त्व के अ्युत भी तो संस्कृत में ही अ्यान्त हुआ अ्ये—परन्तु अ्युत तो अ्यनी क अ्यनी-न-अ्यही स अ्यान्त होत ही है महत्त्व उस अ्यनतम अ्यौर अ्यापक अ्य-अ्यकार का है जो अ्यमार ने हिन्दी काव्य-शास्त्र में अ्यारण्य कर दिया था। वास्तव में हिन्दी के अ्यार्थ की अ्यति ही अ्यल गयी थी—अ्यौर इसका एक अ्यव्युत अ्यमाण यह है कि महाराज अ्यार्थसङ्ग न रस क अ्यभाषार पर काव्य के अ्यति अ्यम का विधान किया है यह अ्यनि के लिए अ्यसते अ्यनी अ्यनीती अ्यौर रस की अ्यार्थनीम अ्यनुता का अ्यमित्त अ्यमाण था। अ्यने अ्यनेक अ्यकार से रस का अ्यम अ्युत्थोपण्य अ्यौर अ्यनि का अ्युत्थ अ्यिरस्कार दिया।—अ्यही अ्यक कि अ्यने अ्यनता को रस-अ्युत्थता के कारण अ्यम ही क्य दिया। अ्यमकार क लक्ष में अ्यतिअ्यत तथा अ्यनता अ्यदि के अ्यान पर हिन्दी में अ्यहसंभ्रमुत्थ अ्यमादि की अ्यतिष्ठा हुई अ्युतों में अ्यार्थ की (अ्यितामसि अ्यदि ने उम काव्य का अ्यसंभ्र माना है) अ्यौर अ्यनता-अ्यारों में अ्युत्थनी की। यह अ्य अ्यमार-रस अ्ये ही महिमा थी अ्यिसका अ्यमकार नाअ्यि-अ्येद क अ्यम में अ्यौर भी अ्यधिक अ्यनसित हुआ—अ्युत्थ अ्ये अ्ये अ्यनता-अ्येद अ्यो अ्यिअ्यन अ्यनी अ्यदि क अ्यम्य अ्यक अ्यार्थनीम है। हिन्दी का अ्यन-अ्यारण्य ता अ्यान अ्यन अ्यम में अ्यनसित हुआ ही है—अ्यम अ्यदि न अ्युत्थ की अ्यिअ्यनता कर एक अ्यनतम अ्यरिअ्यती का अ्यिताम्यस दिया। अ्यम अ्यकार अ्यौर

स्वातन्त्र्य पर हिन्दी की प्रकृति और स्वरूप—हिन्दी की अपनी विकासोन्मुखी काव्य-व्यवस्था तथा उसके सहज माध्यम काव्य-रूपों के विस्तारण द्वारा कदाचित् अधिक सफल हो सकेगा। काव्य-शास्त्र के उस चिरन्तन मिथ्यात्व के अनुसार यहाँ भी आलोचना को अपनी आलोचना-दृष्टि आकाश में न ही प्राप्त करनी होगी—और इसमें इन कवियों की अपनी उक्तियाँ जो आत्म-निरीक्षण के अन्त में स्वतन्त्र उद्गीर्ण हो गई हैं, धातक पत्र प्रदर्शन करेगी। तुलसी और बनानन्द जैसे कवियों में इस प्रकार का आत्मालोचन पर्याप्त मात्रा में मिलेगा। धातक कल्पना कीजिए कि रीति के उस अति-ग्रस्त युग में बनानन्द में आत्म-निरूपण के पोषण इस प्रकार के अपने उद्घरण महज ही मिल जाते हैं।

लोग तो लागि कबित्त बनावैं ये मीझि ली मेरे कबित्त बनावत ।

तुलसीदास अपने मंत्रालय-काल में ही बाणी और विनायक का विचित्र मयाग कर अपनी कल्याणमयी सौन्दर्य भावना की व्यञ्जना कर बैठे हैं।

हिन्दी के प्राकृतिक काव्य-शास्त्र तथा काव्य के विषय में तो और भी अधिक शक्य है। ये महज मानता हूँ कि धारम्भ में जो रीति-ग्रन्थ लिख गये उनमें स्वतन्त्र दृष्टि का प्रायः अभाव है—आचार चाहे भारतीय काव्य-शास्त्र रहा हो या पारश्चात्य। परन्तु यह भी अनुपयोगी नहीं था। भारतीय दृष्टिकोण को समझने के लिए सर्वप्रथम अर्जुनदास कविदा जगन्नाथप्रसाद भानु और सेठ कन्हैयादास पौडार के ग्रन्थों की अपाठ्यता अत्यन्त ही है। इसी प्रकार साहित्यालोचन आदि के पारश्चात्य काव्य-विद्वान्तों से परिचय प्राप्त करने में बड़ी सहायता की है और इस दृष्टि से इन ग्रन्थों का महत्त्व आज भी नगण्य नहीं है। परन्तु हिन्दी काव्य-शास्त्र का स्वतन्त्र रूप इसमें न मिलकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि की समीक्षा में ही मिलता है। इतर प्राकृतिक काव्य और उससे सम्बन्ध अनेक प्रतिभाशाली कवियों की भूमिकाओं में हिन्दी काव्य-शास्त्र के विकास के लिए अत्यन्त पुष्ट आधार मिलता है। अन्तर्गत में अनेक आदि अनेक कलाकारों ने जिस नवीन सौन्दर्य-दृष्टि का उदय किया है वह हिन्दी की अपनी विभूति है जो अंग्रेजी और फ्रेंच की रोमानी छया से स्वतन्त्र है। कला की अन्तर्चेतना और बाह्य अभिव्यञ्जना दोनों के विकास में उसका अपना विशिष्ट योगदान है जिसका उचित मूल्यांकन अभी होगा है। मधोबरा और हापट तुलसीदास बापू और कुरान और इन सबकी मुद्रमणि—आमायनी—प्राकृतिक हिन्दी काव्य की अनेक अनुपम उक्तियाँ हैं। धातक उन्हें संस्कृत या फ्रेंच की कविता काव्य-रूप के अन्तर्गत अक्षय-वद करने ? क्या न भी इसी प्रकार विस्तृत धाम है। शुद्ध की के या विद्यारामसरण के निदर्शनों का अभाव महादेवी के देखा-विशों को धार

बनाने के लिए परिभाषा में बाध सके ? भारतीय और पारश्चात्य नाट्य-विज्ञान के आधार के प्रमाद के कारण नाट्य के माप-विनता सम्बन्ध हुआ रहा है ? मैं इन सवालों का यह जवाब देता हूँ कि हमारे उपस्थान नहीं है वह उपस्थान और जोबनी के बीच की कोई वस्तु है। वहाँ कदाचित् मापक या किसी के मन में एक भ्रान्ति उत्पन्न हो सकती है और वह यह कि वही मैं इन प्रश्नों को धारण साहित्य-जगत् मान लेने की विचारणा तो नहीं कर रहा हूँ। नहीं मैं इन सवालों की उम्मीद नहीं करता था—और मैं इन परिपुष्ट ही मान कर चलता हूँ। मेरा मन्व्य कथन यही है कि हिन्दी भाषा-विज्ञान के विकास के लिए के सामाज्य साहित्य में निरपेक्ष हारर नहीं हुआ चाहिए। उसके निर्माण और विकास के लिए अनेक परिपुष्ट आधार विद्यमान हैं। आज उसके सम्यक् उपयोग की आवश्यकता है। यह उपयोग किस प्रकार हो सकता है ? इसके उत्तर में मेरा निबन्ध है कि हिन्दी साहित्य की परम्परा को आधार मान कर भारतीय तथा पारश्चात्य साहित्य-शास्त्र के साम्यपूर्ण गुणों के द्वारा यह महत्पूर्ण कार्य सिद्ध हो सकता है। इसका विज्ञान-निर्देश आधार्य मुख्य और कवि प्रसार के विवेचन में मिल जाता है। गुण जीव भारतीय सिद्धान्तों के पारश्चात्य साहित्य-शास्त्र के अनुसार विवेचन-साधन दिया है और प्रमाद जीव पारश्चात्य सिद्धान्तों के भारतीय विज्ञान-शास्त्र के अनुसार।

इस प्रकार प्रारम्भ में मैं जो बात प्रस्तुत करता हूँ—इसमें मैं गीत का उत्तर में प्रस्तुत मनुष्य के बुद्धि। यह जीव प्रस्तुत रूप में रह जाता है। उत्तर उत्तर देकर मैं इस कथन का उपसंहार करता हूँ। आज जब आधुनिक भावनाएँ भारतीय जनता में मरिपुष्ट हो रही हैं इन प्रकार का प्रस्ताव तथा आधार्य तथा उपस्थान हुआ ? इन प्रश्नों का उत्तर भी सकारात्मक नहीं हो सकता। इसमें मैंने नहीं कि उच्छ्र-भावों पर पर धारण होने के उपस्थान हिन्दी साहित्य तथा माया शक्ति का भारतीय आधार पर विकास होना आवश्यक है परन्तु हिन्दी के विकास के लिए वे ही नियम लागू होने चाहिए जो सनातन-विज्ञान धारि में व्यक्तित्व के विकास के लिए निर्धारित हैं। व्यक्तित्व के विकास के लिए साक्षात्कार में उपस्थान नहीं करने का उचित उपयोग आवश्यक हुआ है परन्तु आधार्य व्यक्तित्व की मूल-द्रव्यनिर्माण ही रहनी है। इसी प्रकार हिन्दी भाषा एवं साहित्य का विकास मनुष्य तथा इतिहास भाषाओं में निर्मित भारतीय परम्पराओं तथा पारश्चात्य विज्ञान-शास्त्रों के योग्य तथा के द्वारा होना आवश्यक है किन्तु उनका आधारभूत व्यक्तित्व मनुष्य रहना चाहिए। इस प्रकार हिन्दी-साहित्य के मरिपुष्ट व्यक्तित्व का विकास ही आवश्यक है।

व्यक्तिगत जोकर विकास बीमा ? संस्कृत काव्य-शास्त्र का माण्डार प्रत्यक्ष विभूति-सम्पन्न है। इसमें कौन सबह कर सकता है—भरत म सैकर अदभुत नर प्रदर्शन यह समृद्धि हमारी अमूम्य धाती है। उसका उचित अध्ययन सभी नहीं हुआ है। उभर जेठो म सैकर काले तक विस्तृत चिन्ता-बाग भी हम चिन्तो धायण की क्षतिपूर्ति म मिसी है। उसका भी हमारा ज्ञान बडा कच्चा है। इस प्रमाथों की पूर्ति क लिए हिन्दी क मेधावी आलाचकों क सामुदायिक प्रयत्न की अपेक्षा है। और उनक लिए यह कार्य किमी प्रकार हुप्कर नहीं है। क्योंकि यदि धाय आत्म-स्माका न मारें तो मैं एक बार फिर निबधन करूँ कि हिन्दी का आलाचना-साहित्य धाय क्वाचित् उसका सबसे पुष्ट धग है। इस प्रकार हिन्दी के स्वतन्त्र आलाचना-शास्त्र का सम्यक विकास किया जा सकता किमका मूल आधार हागा हिन्दी क माध्यम मे काव्य क चिरन्तन मर्त्यों का अनुसन्धान आ भारतीय तथा पाश्चात्य काव्य-शास्त्रों की समृद्ध परम्पराधों म पोषण प्राप्त करेगा परन्तु उनकी ध्याना या अनुबाध मात्र हाकर नहीं रह जायेगा।



में इस प्रसंग में एक शब्द का व्यवहार स्थिर हो जाना चाहिए, और ये समझता हूँ कि 'अनुसन्धान' शब्द को ही व्यापक अर्थ में पारिभाषिक रूप दे देना चाहिए।

अनुसन्धान के विषय में विश्वविद्यालय भी—जहाँ यह कार्य नियमित रूप से होता है—प्रायः उपयुक्त इन्हीं बातों पर बल देते हैं।

अनुसन्धान-ग्रन्थ को निम्नलिखित उपबन्धों की पूर्ति करनी चाहिए

१ इसमें (अनुसन्ध) तथ्यों का सन्क्षेपण अथवा (उपसन्ध) तथ्यों या निष्ठाओं का लचील रूप में आख्यान होना चाहिए। प्रत्येक स्थिति में यह ग्रन्थ इस बात का खोताक होना चाहिए कि सन्धर्षी में आलोचनात्मक परीक्षण तथा सम्यक निर्णय करने की क्षमता है। सम्यर्षी को यह भी स्पष्ट करना चाहिए कि उसका अनुसन्धान किस अर्थों में उसके अपने प्रयत्न का परिणाम है, तथा वह विषय विज्ञेय के अध्ययन को कहीं तक घोर घाये बढ़ाता है।

(२) निरूपण-बीबी भाषि की दृष्टि से भी इस ग्रन्थ का रूप-आकार संतोष प्रद होना चाहिए जिससे कि इसे पत्रावद् प्रकाशित किया जा सके।

[आचार्य मुनिर्वासिटी पी एच डी निरुपावली पृ० ४]

याने बलकर डाक्टर डॉक्ट कैटने के अर्थ में भी प्रायः इन्हीं विशेषताओं का उल्लेख है—वेबल एक बात लयी है ? जहाँ विषय के अध्ययन को हीन घाने बढ़ाने के स्थान पर 'ज्ञान-शोध का मौमा-विस्तार' अपेक्षित माना गया है। बी. निट. की उपाधि की श्रुत्या को देखते हुए यह उपसन्ध उचित ही है। ग्रन्थ विद्वत् विद्यालयों के नियमों में भी समाज्य से ही मन्व है। इस प्रकार विश्वविद्यालय विद्यान के अनुसार अनुसन्धान न तीस तन्व है

१ अनुसन्ध तथ्यों का सन्क्षेपण

० उपसन्ध तथ्यों अथवा निष्ठाओं का पुनराख्यान

३ ज्ञान-शोध का मौमा-विस्तार, अर्थात् मौमिबता

४ इनके अनिर्दिष्ट एक तरह और भी अपेक्षित है और यह है मुष्टु प्रति पारल-बीबी।

इसमें मन्त्रेह लही कि सामान्यतः ये चारा ही तरह अनुसन्धान-कार्य के लिए आवश्यक हैं परन्तु एक प्रश्न यह उठता है कि इन सबका आरोधिक महत्त्व किम्मा है—अर्थात् इन चार तथ्यों में से किम्मा किम्मा महत्त्व है ? जहाँ एक तीस और चार का सम्बन्ध है उसकी अनिर्धार्यता तो स्पष्ट-निश्च ही है क्योंकि प्रत्येक अनुसन्धान कार्य द्वारा ज्ञान-शोध का मौमा-विस्तार अनिर्धार्य होना ही चाहिए तभी उसकी सार्थकता है मौमिबता ता वेबल अनुसन्धान की ही लही

तीन

अनुसन्धान का स्वरूप

द्विती में रिमख के लिए अनुसन्धान सम्बन्धित पाठ तथा आज धारि अन्तर्गत शब्दों का प्रयोग हुआ है। यहाँ स्मृतन ये सभी पाठ प्राप्त पर्वत ही माने जाते हैं परन्तु संस्कृत में इनके अर्थों में मुख्य अन्तर है। अनुसन्धान का अर्थ है परिपृच्छा परीक्षण समीक्षण आदि। अनुसन्धान का अर्थ है रिखा और अनु का अर्थ है पीछे। इस प्रकार अनुसन्धान का अर्थ हुआ किन्हीं तथ्य का सामने रख कर रिखा-निर्णय में बढ़ना—परचाह-गमन, अर्थात् किसी तथ्य की प्राप्ति के लिए परिपृच्छा परीक्षण आदि करना। सम्बन्ध का अर्थ है आज—किन्हीं तथ्य सम्बन्धी तथ्य को ढूँढ़ने का प्रयत्न। सम्बन्ध भी प्राप्त यही है—सोचन अथवा सूझ निकालन का प्रयत्न। अत्यन्त-अर्थ इसका है 'या का पता लगाना'। सोच का अर्थ है सुझ करना सोच करना स्वच्छ रूप देना। सोच के अर्थ है ढूँढ़ना अज्ञात का ज्ञान करना-करना, मापता का पता लगाना। अन्तर्गत इस अर्थ में हमारे समस्त तीन तथ्य उपस्थित होते हैं (१) सम्बन्ध अथवा सम्बन्ध अथवा अज्ञात का ज्ञान दूसरे शब्दों में सुष्ठु एवं सुष्ठु सामग्री को प्रकाश में लाना। (२) अनुसन्धान अर्थात् परिपृच्छा परीक्षण-समीक्षण आदि—उपलब्ध सामग्री की जाँच-पड़ताल आदि इसके अन्तर्गत आती है। (३) सोच अर्थात् सुझ करना—इसके अन्तर्गत आता है प्राप्त सामग्री का संस्कार-परिष्कार। जिस प्रकार कोई धातु-धातुक उपलब्ध अन्तर्गत पराधी की स्वच्छ और सुष्ठु करके हमारे समुत्पन्न रहता है इसी प्रकार साहित्यिक धोषकर्ता भी अपनी उपलब्ध सामग्री को सुष्ठु करके परिष्कृत रूप में हमारे समक्ष उपस्थित करता है।

इस विवेचन के परिणाम-स्वरूप जो बातें स्पष्ट होती हैं एक तो यह कि द्विती में प्रयुक्त मित्र-मित्र शब्द संस्कृत-शाब्दात् की दृष्टि से अनुसन्धान-कार्य के मित्र-मित्र रूपों को व्यक्त करते हैं। सम्बन्ध अथवा सम्बन्ध से अनुसन्धान सामग्री का उपलब्ध करने का सोच होता है अनुसन्धान में परीक्षा-समीक्षा का और सोच से विवेचन निर्णय निष्कर्ष-प्राप्ति आदि का। और, वास्तव में अनुसन्धान-कार्य के तीन संस्कार भी ये ही हैं। दूसरी बात यह है कि ऐसी स्थिति

किन्हीं भी साहित्यिक कृति अथवा जीवन के किन्हीं भी सम्भीर कार्य के मूल्यांकन की समझे नहीं करती है। इसी प्रकार विषय का शुद्ध प्रतिपादन भी प्रत्येक कृति के लिए अनिवार्य ही है। हाँ यह बात ध्यान है कि मौसिकता और सीसी-सीप्टक का स्वल्प सर्षक एक-सा न होकर विषय-सापेक्ष ही होता है। मन पहना और दूसरा तत्व रह जाते हैं अर्थात् अनुसन्धय अथवा तन्वीन तन्वीयों का धर्मोपस्य और उपनस्य तन्वीय अथवा सिद्धांतों का पुनराख्यान। इनका सापेक्षिक महत्त्व क्या है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि इनका सापेक्षिक महत्त्व बहुत कुछ अनुसन्धान के विषय पर निर्भर है। यदि समझ बाह्य मन को न तो स्वतंत्र वह कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक विषयों के अनुसन्धान में तन्वीय का महत्त्व अधिक है और साहित्यिक विषयों के अनुसन्धान में विचार का। कुछ विषय ऐसे भी हैं जो विज्ञान और साहित्य के सम्पर्क में हैं, जैसे इतिहास—और उससे सम्बद्ध मूलतः शास्त्र, पुरातत्व-शास्त्र आदि अनेक विषय समाज-शास्त्र तथा उससे सम्बद्ध अर्थशास्त्र आदि-शास्त्र राजनीति-शास्त्र आदि। इनमें अनुसन्धान कार्य की स्थिति भी सम्पर्क में माननी चाहिए अर्थात् उसमें तन्वीय और विचार दोनों का ही महत्त्व रहता है। इन प्रश्नों में एक बात स्पष्ट हो जानी चाहिए और वह यह कि उपर्युक्त विषय-विभाजन और उससे सम्बन्धित तन्वीय और विचार का अंतर निर्धारण अर्थ में नहीं है। जिस प्रकार विभिन्न विषय—विज्ञान और साहित्य आदि—एक-दूसरे से पुरस्कृत स्वतंत्र नहीं हैं इसी प्रकार तन्वीय और विचार भी एक-दूसरे से निरपेक्ष नहीं हैं। इन प्रकार के वर्गीकरण विभाजन आदि में नापेक्षिक प्राधान्य ही प्रमाण रहता है।

साहित्यिक अनुसन्धान

हयारा विषय साहित्यिक अनुसन्धान ही है अतएव इन अपने विवेचन को उसी तक सीमित रखेंगे। जब तक के विवेचन में तीन बातें हमारे सामने आती हैं

१ (क) धर्मोपस्य (ख) अनुसन्धान या पुनराख्यान (ग) मौसिकता और (घ) प्रतिपादन-सीप्टक—अनुसन्धान के ये चार आवश्यक तत्व हैं।

२ विषय का और अनुसन्धान का अविच्छिन्न सम्बन्ध है अर्थात् अनुसन्धान के स्वल्प पर अनुसन्धेय विषय पर निर्भर ही प्रभाव रहता है। अनुसन्धान का कोई निरपेक्ष अथवा नभ-नामायक स्वल्प नहीं है और परिभाषण: अनुसन्धान के लिए प्रत्येक स्थिति में कोई एक दृष्टिकोण निर्धारित कर देना सम्भव नहीं है। इस को अपने विषय में न ही दृष्टि प्राप्त करनी होगी—एक ही दृष्टि में सभी

नवीन अथवा जोड़ दिया है।

६ साहित्यिक अनुसन्धान में अन्वेषण का एक प्रकार और भी होता है। वह है भाव, प्रसंग अथवा प्रबन्ध-कल्पना-विषयक अन्वेषण। इसके अन्तर्गत अन्वेषक इस बात की खोज करता है कि परवर्ती कवि या लेखक आवाधिर्वापमा अथवा प्रसंग-विधान में अपने पूर्ववर्ती कवियों क कहीं तक आये हैं। मुस्तक ने कवि की दृष्टि से इस प्रकार की मौलिक नियोजनाओं का बर्तन प्रसंग-बकता अथवा प्रबन्ध-बकता के अंतर्गत किया है। इस प्रसंग-बकता और प्रबन्ध-बकता से सम्बद्ध अन्वेषक साहित्य-शोधक के लिए विशेष महत्व रखता है। परन्तु कदापि इसे अन्वेषण का एक स्वतन्त्र रूप न मान कर प्रसंग-विचार-सम्बन्धी अन्वेषण और अंततः यैसी-सम्बन्धी अन्वेषण के अंतर्गत ही मान देना अधिक समीचीन होगा।

शास्त्रान अथवा पुनराख्यान

शास्त्रान का अर्थ है व्याख्या करना—स्फुटीकरण करना निहित अर्थ को विहित करवा तथ्य अथवा तथ्यों के शास्त्रान का अर्थ है उनके पारम्परिक सम्बन्धों को स्पष्ट करना—दुम्ने अर्थों में तथ्यों का विचार में परिलक्ष्य करना। नवोपसर्ग तथ्य का शास्त्रान और पूर्वोपसर्ग तथ्य का पुनराख्यान होता है। साधारणतः सभी प्रकारके अनुसन्धान-कार्य के लिए और विशेषतः साहित्यिक अनुसन्धान-कार्य के लिए शास्त्रान अथवा पुनराख्यान का अनिवार्य महत्व है क्योंकि तथ्य अपने आप में इतना महत्वपूर्ण नहीं है—वास्तविक महत्व तो उनके पारम्परिक सम्बन्ध-ज्ञान का है। उद्योग के क्षेत्र में वस्तु वा तथ्य का महत्व कितना ही हा परन्तु ज्ञान के क्षेत्र में तो ज्ञान का ही महत्व है। प्रस्तुत प्रसंग में भी यही अनुसन्धान का मूल नक्ष्य है ज्ञान का गौमा-विस्तार वास्तविक महत्व निस्सन्देह ही ज्ञान का है क्योंकि ज्ञान की सीमा का विस्तार वस्तु वा तथ्य नहीं कर सकता वस्तु वा तथ्य का सम्बन्ध-ज्ञान ही कर सकता है। बीजे भी यदि ध्यान देविय तो सभी विद्यार्थी ध्यान में जाकर दर्शन का रूप धारण कर लेती हैं—जिनमें बहु सम्भावना नहीं है, उन्हे हमारे पास में हीकर कोटि की उप-विद्यार्थी माना गया है और वास्तव में दर्शन कोई विशिष्ट विषय न होकर सर्व-विचार का एक साधारण विधान ही तो है।

साहित्य के क्षेत्र में तो यह बात और भी अधिक यथिनी है क्योंकि साहित्य ज्ञान के मुख्यतः साम्यमें में न है। अतएव साहित्य के क्षेत्र में तो वस्तु अथवा तथ्य वा स्वतन्त्र महत्व और भी कम तथा ज्ञान अर्थात् विचार एवं भाव का महत्व और भी अधिक है। यही तो अन्वेषण का रूप भी तत्कालिक न होकर

विचाररमक हाता चाहिए—आख्यात तो उसकी पहली आवश्यकता है। यह आख्यात बिलला मूलवर्ती और सूक्ष्म-गहन होना अनुसन्धान उतना ही मूल्यवान होना। वह अपेक्षाकृत मौलिकता और सूक्ष्मता ही साहित्य तथा अन्य विषयों के आख्यात का अंतर स्पष्ट कर देती है। कतिपय अन्य क्षेत्रों में साधारण आख्यात में काम चल सकता है—क्योंकि वहाँ आचारमूठ तथ्य प्रकवा वस्तु मूर्त है—वहाँ उनके पारस्परिक मूर्त-सम्बन्धों का उद्घाटन पर्याप्त हो सकता है। परन्तु साहित्य के क्षेत्र में या उसके भी आगे दर्शन के क्षेत्र में वहाँ आचारमूठ तथ्य अमूर्त है—प्रकवा विचार तथा अनुसूति-रूप है वहाँ बाह्य सम्बन्ध ज्ञान सर्वथा अपर्याप्त और बहुत-बहुत निरर्थक ही रहता है। साहित्य की आचारमूठ सामग्री जैसा कि मैंने ऊपर स्पष्ट किया है निर्जीव और जब तथ्य नहीं होने और न केवल तर्क-नाम्य विचार या सिद्धान्त ही उसके उपकरण होते हैं—उसके उपादानों का भीवन्त अनुसूतियाँ या अनुसूति-मूलक विचार प्रकवा सत्य ही होते हैं। ऐसी स्थिति में साहित्यिक आख्यात न खून यथानात्मक होना और न कोरा तर्कवाद ही—उसका सत्य तो मूलमूठ अनुसूतियों को प्रकाश में लाकर साहित्य तथा साहित्यकार की आत्मा का साक्षात्कार ही हो सकता है। जब तक आख्याता में साहित्य की आत्मा का साक्षात्कार करने-करने की क्षमता न हो जब तक वह साहित्य का आख्यात करने का अधिकारी नहीं हो सकता क्योंकि साहित्य मर्म की बानी है—प्रकवर्तों की गणना नहीं है। अतएव जो मर्म को न छू कर केवल धरीर पर ही हाथ फेरता रहे वह साहित्य का मर्म नहीं हो सकता। जो अन्तर्दर्शन न कर सके वह इष्टा कैसे हो सकता है? वह तो गणक ही रहेगा।

इस प्रयोग में अनायास ही मुझे अपने एक सम्मान्य मित्र का तर्क याद आ जाता है। अनुसन्धान के विषय में जबी करते हुए उन्होंने मेरी उपर्युक्त स्थापना के उत्तर में कहा था कि यह आत्मा भावि की बातव वैज्ञानिक अनुसन्धान-मदति से बाहर है—यह तो आयावाची कल्पना है। और वह परिहास नहीं था। यह एक विचित्र दृष्टिकोण को व्यक्त करता है जो तथ्य को ही अंतिम प्रमाण मानता है। इस माय्यता के अनुसार अनुसन्धाता को अपनी दृष्टि निरंतर तथ्य पर ही रखनी चाहिए—उसके लक्ष्य निष्कर्ष एवं स्थापनाएँ तथ्यगत (फैक्टुअल) होनी चाहिए। तथ्य ही उसका मार्ग-निर्देशक करें वह तथ्यों का मार्ग निर्देशन न करे। इसका अर्थ यही हुआ कि अनुसन्धाता का दृष्टिकोण कुछ वस्तुगत होना चाहिए—जमें आत्मगत प्रकवा भावगत तथ्यों के लिए कोई स्थान नहीं है। सामान्यता ता यह माय्य ही होना चाहिए। इसमें संदेह नहीं कि गवेषणा-निबंधना के लिए अनुसन्धक निश्चित दृष्टि सर्वथा बाध्यही ही है। किन्तु भी ये सत्य पाश्चात्तिक एवं पारवा

तक है—इसका अर्थ सर्वथा मूर्त अथवा अज्ञ-अज्ञ नहीं है। इसमें इनकी स्वाभाविक ध्येयता है। वस्तु-परक अथवा तत्त्व-परक दृष्टिकोण का अर्थ यह है कि इष्ट या समीक्षक वस्तु अथवा तत्त्व पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित रखता है—यह वस्तु या तत्त्व को उसके अपने रूप में ही देखता और प्रस्तुत करता है उस पर अपनी मनसा का आरोप नहीं करता उसमें अपने भावों या विचारों का रंज नहीं देता। वस्तु-परक समीक्षक केवल उसीको ग्रहण करता है जो उसे तत्त्वों में प्रत्यक्ष रूप में प्राप्त होता है—यह अपनी रूपरत्ना का तत्त्वों का प्रसन्न नहीं करने देता। यही वैज्ञानिक दृष्टिकोण है नियुक्त दृष्टि से अर्थ का समर्थ दर्शन करना विज्ञान का मकद है—विज्ञान के लिए अर्थ अथवा प्रकृति या पदार्थ ही मुख्य है आत्मा नहीं। प्रकृति ही आत्मा का उपबन्धन (अधिष्ठानिय) करती है आत्मा प्रकृति का नहीं। तत्त्व-परक दृष्टिकोण इसी सिद्धान्त का प्रोद्भास है। इनमें सम्येह नहीं कि उपर्युक्त मान्यता में बहुत-कुछ तार है परन्तु फिर भी इच्छा तत्त्व-विरक्षेय्य करना आवश्यक है और कम-से-कम इसके प्रतिपाद से बचना चाहिए। पहला प्रश्न तो यह उठता है कि क्या विज्ञान का यह सिद्धान्त हमें सहाय्य मान्य है कि प्रकृति ही आत्मा का उपबन्धन करती है। जहाँ तक भारतीय जीवन-दर्शन का सम्बन्ध है इस प्रकार का सिद्धान्त प्रायः समान्य ही है—इसका निर्वाह सांख्य भी अंत में नहीं कर पाया। अतः और जीवन के सभी रूपों की परीक्षा करने के उपरोक्त भारतीय दर्शन अंत में आत्मवाद पर ही आकर रुका है।

उपर्युक्त दृष्टि में भी अपनी एक प्राधान्य आत्मवाद अथवा आदर्शवादी चिन्तावाचक का ही है। इष्टा के व्यक्तित्व में अतन्मूक्य रूप अपने आप में अज्ञ है। जब तक हम अपनी आँख के रंज और प्रकाश को वस्तु के रूप पर प्रकाश डालने से नहीं रोक सकते तब तक हमारे लिए अपने दृष्टिकोण को कुछ अनात्म-परक एवं निर्लेप बनाने का अर्थ अनुचित है। मगर यह तर्क साहित्य पर तो और भी अधिक लागू होता है क्योंकि साहित्य का तो निर्माण ही मूलतः भाव-तरंग अथवा आत्म-तरंग से होता है। अतएव साहित्यिक आत्मवादा के लिए तो बहाव में कुछ निस्संयम या निर्लेप दृष्टि एक अर्थवाद के रूप में ही जानी जा सकती है। जहाँ हृदय (अर्थात् साहित्य) आत्म-परक है जहाँ दर्शन की प्रक्रिया आत्म-परक है क्योंकि साहित्य का अर्थ वास्तविक जीवन से होकर अर्थवाद ही होता है यहाँ दृष्टि, अज्ञ अर्थ में अनात्म-परक कैसा हो सकती है? अतएव अन्तः परक, निर्लेप निस्संयम अथवा अनात्म-परक अर्थों का साहित्य के अर्थ में अज्ञ अर्थों अर्थमय है। हाँ इन्हीं अर्थवाद के रूप में ग्रहण करना सर्वथा समीचीन ही

जाने से सही चीज का महत्व बट जाता है। साहित्य में मजबूततक उच्च-संस्कृत और पक्का जाता है मर्म ज्ञान उपेक्षित हो जाता है। साहित्यिक अनुसंधान की यह प्रवृत्ति अत्यंत चिन्ता है। दूसरा दुष्परिणाम यह होता है कि प्राकृतिक साहित्य अथवा समसामयिक साहित्य इस दृष्टि से अनुसंधेय नहीं रह जाता। कामायनी या मीमांसीसारण पुस्तक पंत निरामा महादेवी के काव्य अनुसंधान के विषय नहीं बन सकते और वास्तव में अनेक विश्वविद्यालयों में जीवित साहित्यकारों अथवा समसामयिक साहित्य के अध्ययन पर वैज्ञानिक प्रतिबंध लगा हुआ है। पहली प्रवृत्ति जितनी चिन्ता है वह दूसरी प्रवृत्ति उतनी ही उपहास्य है।

इस संबंध में दूसरा विचारणीय विषय है मौलिकता की विभिन्न कोटियाँ। मौलिकता की सर्वोच्च कोटि है आविष्कार—साहित्य में आविष्कार का अर्थ है नवीन सिद्धान्त का आविष्कार। वह कार्य जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही दुष्कर भी। सिद्धान्त के आविष्कारों अत्यंत ही विरल होते हैं—किसी एक क्षेत्र के नहीं विश्व के साहित्य में भी इनकी संख्या सदैम नगण्य ही रहती है। प्राचीन काल में भरत नामक आत्मदत्तक कुलुक उबर धरस्तु, नाबाइनस आदि योग प्राकृतिक युव में प्रथम कोषे आदि ही इस शीर्ष के अविष्कारी हैं। द्वितीय कोटि में "पुनराख्यान" आता है। यहाँ नवीन सिद्धान्त का आविष्कार या अन्वेषण नहीं होता किसी मूल्य महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त के पुनराख्यान में ही मौलिक अर्थ का विकास मिलता है। किसी बात विचार या सिद्धान्त की नवीन व्याख्या एवं प्रयोजन-उपयोग में भी उच्च कोटि की मौलिकता मिहित रहती है। उदाहरण के लिए अभिलेखकुल का महत्त्व नवीन सिद्धान्त-प्रचलन पर आवृत्त नहीं है—आत्मदत्तक के प्रति सिद्धान्त या भरत के रत्न-सिद्धान्त के अन्वीर व्याख्यान में ही उनकी मौलिकता का विकास हुआ है और संस्कृत काव्य-शास्त्र का इतिहास प्रमाण है कि अभिलेख का महत्त्व आत्मदत्तक से कम नहीं है। विदेश के अनेक आचार्यों—और हिन्दी में मुकुन्दी के लिए भी यही कहा जा सकता है। मौलिकता की एक तीसरी कोटि भी माली जा सकती है—परन्तु यह मौलिकता का स्तूप अथवा बाह्य रूप ही है। उष्मान्तरण पाठ-योग पाठान्तरण आदि इनके अन्तर्गत आते हैं। इनका भी अर्थ महत्त्व है क्योंकि इनका लिए भी एक विविध मानसिक धारणा और धर्म तथा संतुष्टता की अन्वेषणा होती है। परन्तु फिर भी इन्हें मौलिकता की उच्च कोटि के अन्वेषण नहीं रखा जा सकता। इनमें तत्त्व गौरव हो रहा है तत्त्व-योग नहीं। इनके अतिरिक्त एक अन्य प्रकार के

निबन्धों का भी मौलिकता की दृष्टि से इसी कोटि-क्रम में रखा जा सकता है। भेदा धर्मिप्राम उक्त निबन्धों से है। जिनका प्रतिपाद्य नवीन नहीं होता धर्मार्थ विचार नवीन नहीं होते जिनमें धार्यान भी नवीन नहीं होता परन्तु प्रतिपादन नवीन होता है। इनमें धारिष्कार धर्मका उद्घाटन नहीं होता प्रकाशन मात्र होता है। परन्तु इसका भी धपना महत्व है ही कम से कम यह प्रहल धर्मि का धोतन तो करता ही है। इसिए साहित्य के धर्म्ययन में इस प्रकार के निबन्धा का भी धपना मूस्य है। और मौलिकता की कोटि में उन्हे बहिष्कृत नहीं किया जा सकता। मसे ही उनकी मौलिकता निम्न कोटि की ही क्या न हो।

हमारे धार्यायों में साहित्य के तीन ह्यु मान हैं। धर्मि निपुणता और धर्म्याम। इन तीनों का महत्व भी इसी क्रम में माना गया है। धर्मि धर्मि का महत्व धर्म्ययन धर्मि: निपुणता का उसके बाद और धर्म्याम का सबसे बाद। मौलिकता की उप्सुक्त कोटियों का भी इन्ही तीन ह्युओं के समानान्तर माना जा सकता है। धारिष्कार 'धर्मि' का धार्यक है पुनराध्यायन 'निपुणता' का और धर्म्य-धोचन पाठ्याध्यायन, प्रतिपादन धारि 'धर्म्याम' का धारिधन है।



घार

केशवदास का आचायत्व

प्रिय मायालबास

गुम्हारा पत्र मिला। विषय मर अनुभूत है घोर मुकर भी। सुकर इमति कि प्रमी कइ दिन पुन मेन प्रपन विद्यार्थियों के ममल केमव क आचार्यत्व पनापन विद्या बा। मरे घालोचन घोर प्रम्यापक का अनिष्ट छवन्व रहा है—दोतां का विकास भी साध-साध हुआ है इसलिए मेरी घालोचना-गठति निर्णय की प्रोसा व्याख्यान-विस्लेषण की ही प्रतिक प्रह्वय करती रही है। मर घालोचक काम्य-शास्त्र मनोविज्ञान मनोविरलेषण-शास्त्र काम-शास्त्र धार्मिक का प्रखन करने जहाँ-जहाँ गया है, प्रखनक उनक साध-साध गया है। प्रव विरवविद्यामत्र में प्रकर उनका साहचर्य घोर भी अनिष्ट हो गया है। पहले परेष्ट कप से मरे कामन छिप्य-वन रूठ करला बा—मर मास्ता विज्ञान-समात्र उपस्थित रूठा है।—इसलिए में गुम्ह प्रपन उस मापन का ही एक प्रमिलेक मेर रहा है—बोरा व्यक्तिगत हा गया है परन्तु उद्यम विषय की हानि नहीं हुई।

उबा स्पष्ट पर घंटा बजा घोर में कलास की घार जन दिबा कलाठ क बाहर पहुँचते ही मैंने देखा कि घाया स्वाही सर रये हुए हाथों का बने के लिए बा रही थी—मुझे देखकर ठिठक गई घोर क्वाचित् जते यह निर्णय करने में देर लगी कि घाये जाए या कला में ही सीट घाये। मैंने खिड़ी लेता मुक जिया—विषयके उत्तर में 'बस मर' या मर 'जीब' की घाचार्ये घाने लगी। 'घम जीब' का रहस्य कुछ दिन तक मेरी समझ में नहीं घाया बा इम नाम घपने विद्यार्थी-जीवन में 'घम सर' के ही प्रम्यस्त थे—'घम जीब' क्वाचित् व्याकरण-सम्मत भी नहीं है। मैं भी मेरी बारपा रही है कि 'सर' सम्बोजन का प्रतिकारी दुर म प्रतिक घोर काई नहीं है। घपने सरकारी जीवन में जहाँ 'सर' का एक विविष्ट प्रोपचारिक महत्व है घोर मुनते है कि ज्येष्ठ प्रतिकारी विवि के बस में घपन प्रधीनत्व प्रतिकारी को 'सर' कहने न लिए बाध्य कर सकना है, मुझे घपन नमनवन्क तथा विद्या बुद्धि घोर वर म

पत्न स हीनतर व्यक्तिता के प्रति इसका प्रभाव करन में बड़ी कठिनाई हुनी थी । विश्वविद्यालय में ऐम छात्र-छात्राओं के मुँह में जो स्वभाव में प्रत्यक्ष विनीत धीर अज्ञानता से 'यम प्लीड' मुँहकर बाड़ा प्रारम्भ हुआ था और मेरा विस्सेयव्यवहीन मन तुरंत ही उसका कारण लाजल सप गया था । पहले तो मैं नवाज-शास्त्री समाचारक की भाँति इस प्रश्न का समाचार राजनीतिक-सामाजिक कारणों में डूँडन गया । मेरा विद्यार्थी धीर सम्पादन-जीवन परतम भारत में धनीत हुआ था—ये स्वतंत्र भारत के छात्र-छात्राएँ हैं—वेस-काल क प्रभावकम इन्होंने कथाचित् हास्य नाम का खाण कर सख्य-भाव का प्रहसन कर लिया है । हम सोच केचारे तुलसीदास ही हैं—ये भाव सूरदास हो गये हैं । परन्तु न जान क्यों हम समाचार स मेरा मन तनुष्ट नहीं हुआ—मुझे लगा कि जैसे प्रगतिशील समाचारक की भाँति मैंने भी पेट क बर्द का समाचार पृथीवादी धर्म-व्यवस्था में डूँडन का प्रयत्न किया है । और वास्तव में इस समस्या का समाचार इतना दुरुस्त नहीं था—यान् विश्वविद्यालय क जीवन में सह-व्ययन के साथ-साथ सह-अभ्यापन भी हुला है, प्रत्येक 'बस तर की सम्बन्ध विज्ञान धाने सम्बाध-बोध के कारण पुंभाषी सम्बाधन के प्रयोग में नहीं महिला सम्बाधक का सम्मान न करे है इस तथ से धाज का सावधान छात्र नतर्क हाकर उन्नत काशी प्लीड का प्रयोग करता है । इस समाचारक में मेरा परितोष था हुआ ही धाम ही होयो भी धाई और अपने छात्र-जीवन की एक बटना याद था कई जव हमारी महिला-सम्बाधक में 'तर' और 'सैडम के बीच लड़कनडाते हुए हम भागों का डोट कर कहा था—'एडम मी एंड तर' । —'तर यह तो प्रसमवत्तु में था ही लिख गया । ४-२-मिनट तक हाडिरी मेने का कन चलना रहा—पतनी-माटी मधुर-कर्कस धाकारों मेरे कानों में धाती थीं और मेरा हाथ बंधवत् धावे बढ़ता था रहा था कि बीच में सधानक ही हड़बड़ी के साथ एक ठेक धाकार में उभे रत्न दिया । मैंने धाँक उठा कर देखा तो मालूम हुआ कि विमला रानी ने कपल पसीटते-बनीटते लजव पर धाकर, धपला नाम फकड़ ही लिखा । जैसे-जैसे यह कार्य समाप्त हुआ—प्रीक्षी धादि का कई विष्ण नहीं पड़ा उसके लिए कोई धावकास भी नहीं रह गया था मैंने धीरधारिक रूप में बोला, कर, की, की, कि, जिम, काम, हूँ, यह, काम, धाया, करे—'किन्तु और की तरह नहीं जैसे धावमी की तरह—निरतक धाव से । और इस महिला के धावने नुरेधाधक धामा और विश्वामित्र जैसे नहारमी भी धास्य-मधवक कर चुक से ।

मैंने व्याख्यान धारण्य किया

धाधारे धाध के दो धर्म हैं धाधारण धर्म है धीला धानि देन धामा धुन

कामकमानुसार रसिकप्रिया की रचना कविप्रिया से पूर्व हुई थी। इसका अभिप्राय यह है कि केशव की प्रकृति आरम्भ में रसवाद की धार की धीरे धीरे मीठि प्रान्त कर वह अलंकारवाद की ओर हो गई। मेरे इस भाव पर, मैंने देखा मधुर की दृष्टि बिलासा से कमजोर थी—कृष्ण शर्मो तक उसमें इधर उधर देखा कि कहीं कोई यह तो नहीं समझता कि मैं अपने ज्ञान का प्रदर्शन कर रही हूँ और फिर प्रस्त किया 'लेकिन मीठि की दृष्टि से तो अलंकारवाद की अपेक्षा रसवाद का ही स्वागत ठीका है। ज्यों-ज्यों अलंकार-शास्त्र का विकास होता गया त्यों-त्यों अलंकारवाद की अमान्यता और रसवाद की मान्यता की ही पुष्टि होती गई। फिर केशव के विषय में ऐसा किस प्रकार हुआ? प्रस्त अत्यन्त मठर्क था। मैंने उत्तर दिया 'हाँ तुम्हारी सफा ठीक है यह विकास-क्रम के विपरीत है। उसके अनुसार अलंकारवाद काव्य-शास्त्र की आरम्भिक स्थिति की ओर रसवाद अथवा रस-व्यतिहाय उसकी विकसित अवस्था की मिश्रि थी। परन्तु केशव ने अपने यौवन-काल में स्वभाव से रसवाद के अंगभूत शृंगारवाद को ग्रहण किया परन्तु उसके उपरान्त उन्होंने काव्य-शास्त्र का ओर ग्रहण अभ्यस्यन करने हुए प्रचीनों के मत को प्रमाण मान कर अलंकारवाद का स्वीकार कर लिया। इसी क्रम से हम पहले केशव के रस विवेचन की ओर उदाहरण अलंकार-विवेचन की समीक्षा करते हैं।

रस विवेचन केशव ने यों तो नव रस का वर्णन किया है परन्तु उसका मूल प्रतिपाद्य शृंगार ही है जिस उन्होंने स्पष्ट रूप से रसरस्य माना है 'सबको केसोबास हृदि भाषक है शृंगार।' अपने मठ के पोषण में उन्होंने सभी रसों का समावेश शृंगार में कर दिया है—हास्यदि मित्र रसों का ही नहीं रोद धार भीमसादि अमित्र रसों का भी उन्होंने शृंगारमय वर्णन किया है। शृंगार का रसरसत्व केशव की अपनी कोई महीन कल्पना नहीं थी। शताब्दियों पूर्व अग्नि-पुराण शृंगार विभक्त तथा शृंगार-महास में उसकी घोषणा हो चुकी थी। अग्नि-पुराण की स्थापना है कि 'शृंगारी शिल्पिः। काव्ये चार्त्तं रसनयं जगत्।' इसकी व्याख्या करते हुए अग्निपुराण के सेसज अथवा सम्पादक ने लिखा है 'आनन्द से अर्द्धवार की उत्पत्ति होती है, अर्द्धवार से रसि की बिसके कि शृंगार, हास्य आदि मित्र-मित्र रूप मात्र है। इसी की प्रतिष्पति हमें भाव के शृंगार-महास में मिलती है। उनका मत है कि बिज्ञान केशव गठानुपतिवता के कारण ही शृंगार, भीर आदि रसों का वर्णन करते हैं। वास्तव में रस तो केशव एक ही है शृंगार। हमारा अर्द्धवार ही प्रतिभूत परिस्थितियों के अभाव में विभाव अनुभाव व्यभिचारी आदि के द्वारा आनन्द-रस में संविद्य हो कर

रसत्व को प्राप्त हो जाता है। रसि, हास आदि भाव शृंगार से ही उत्पन्न होते हैं—वे स्वयं रसत्व का कमी प्राप्त नहीं होते। न तो शृंगार की सोभा को बढ़ाते हैं जिस प्रकार कि प्रकाश की किरण धूमिल की कान्ति बढ़ाती है। इसलिए स्वामी लक्षारी आदि का प्रपञ्च मिथ्या है। शृंगार ही कर्तुर्वर्ष का कारण है वही रस है। 'एकोनपञ्चाशद्भाषा बीरारयो मिथ्या रस प्रथमा शृंगार एवैक-चतुर्वर्षकारणं स रस इति। धूमि-सुरालु और शृंगार प्रकाश की यह स्थापना दार्शनिक आचार पर स्थित है—उसमें जीवन के मौलिक तत्वों के आचार पर शृंगार की महत्ता प्रतिपादित की गई है जो मनाविस्तोपल-दास्य आदि की धार्मिक मान्यताओं से बहुत भिन्न नहीं है। परन्तु केशव की दृष्टि उसके मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक आचार तक नहीं पहुँच सकी उन्होंने केवल एक धर्म-दार्शनिक धारणा पौराणिक आचार को ग्रहण करते हुए सभी रसों का शृंगार में समावेश कर दिया है।

श्री बृजलालकुमारि हेतु 'शृंगार' अपमय ।

बास 'हास' रस हरे, वास-बंधन 'कल्याणध' ॥

केशी प्रति प्रति 'रसि' और 'मारी वातामुर ।

'भय' शब्दानत वल कियो 'श्रीभक्त' बकी उर ॥

प्रति 'अवमुत' बंध विरंचि प्रति, 'जात' संतते जोष भित ।

कहि केसव सेवहु रसिक जन बधरत मे बज-राम भित ॥

उपर्युक्त स्तुति-श्लोक में कवि ने नौ रसों का रूप के व्यक्तिरूप में समावेश कर अपने सिद्धांत के लिए आचार-भूमि तैयार की है। रूप में जिस प्रकार शृंगार मन होते हुए भी नवरस-रूप धारण करते हैं उसी प्रकार शृंगार भी नवरस में परिचय हो सकता है प्रथमा नवरस का शृंगार के साथ तादात्म्य हो सकता है। परन्तु केशव इस दार्शनिक दृष्टि का निर्वाह नहीं कर सके। रसिकप्रिया के श्लोक में वही उन्होंने शृंगार रसों के लक्षण उदाहरण दिये हैं वहाँ के न तो इनके स्वरूप को स्पष्ट ही कर सके हैं और न इनमें से किसी रस का परिपाक ही कर सके हैं—वे रस लक्षारी की स्थिति से घाते नहीं बढ़ सके और कहीं-कहीं तो वे धर्म स्वयं से भी सर्वथा स्वतन्त्र हो गये हैं। उनके कदम में शोक की उद्विग्न नहीं होती—केवल रूप प्रथमा उचिता के प्रति लक्ष्यभूति की मान्यता का उदय होता है; वहाँ रस का परिपाक ही नहीं है केवल भाव-रस है। वास्तव में केशव ने कदम का लक्षण भी परम्परा से ढोका हट कर दिया है—उन्होंने रस के साथ और धर्मिक को प्राप्ति को कदम का मूल आचार न मानकर प्रिय में विभिन्नकरक धर्मिक रस के धर्मिक को ही माना है। यह लक्षण ढोका विभिन्न

प्रबन्ध सपना है क्योंकि किसी मान्य आचार्य ने इस प्रकार का समाज नहीं
 दिया। केदार न मा ता किसी अप्रसिद्ध धर्म के आचार पर इस ब्रह्म किया है
 या फिर हमारा अनुमान है कि इष्ट का नाम और धर्मिष्ट की प्राप्ति का धर्म
 उन्होंने 'इष्ट का धर्मिष्ट' कर दिया है। कठक न एसी धर्मक बुद्धियाँ धर्मक स्वाभाव
 पर की है धर्मक न सदा भी धर्मिष्ट नहीं है। इसके धर्मिष्टका रीति और
 और समाजक का एकान्त शृंगारमय वर्णन है—रीति में एक धोर तो सभी द्वारा
 राजा न मान का निवारण है 'तेने धर्म के नभी उपमान ता छेने भय न मान मये
 सब नह रह-भय नूने विष पर धारण किया है ? दूसरी धार रति रथ में इष्टक
 क रीति मान का विषय है। इसी प्रकार भवतक में भय का राजा और इष्टक
 पर शृंगार-परक प्रभाव दिखाया गया है जिसक कारण कामिनिवा प्रिय के कंठ में
 मन जाती है।

कुछ छान-छानाघा का इस पर बाड़ी-सी हयो धाई परन्तु धम्पायक की
 धारण-मन्मीर मुद्रा में किसी प्रकार का मार्बन न बलकर नह बचास्वान किसीन
 हो गई। फिर भी सतिव मोहन की हँसी नहीं रही धोर उसने धपन पाठ बीठे
 हुए उमाकाय धोर गुण्ये पुण की धार देखा। ये दोनों छान स्वभाव न मन्मीर
 से—सतिव के आपस-बोध स बचन के लिए इन्होंने लीक कर उसकी धोर न
 हुई मोड़कर धोर भी संलग्न भाव न नाट निजान शुरू कर दिये।
 बीजल में भी शृंगार का ही प्रवण है फिर भी उसका परिपाक धनकम
 नहीं कहा जा सकता। परन्तु बीमलस का लक्षण देते हुए केदार न स्थायी भाव
 रूप में कुपुष्पा धर्म का प्रयोग नहीं किया ज्ञानि का भी प्रयाण कुछ आचार्यों
 के अनुसरण पर माय्य हा मक्या का परन्तु केदार ने उते 'निम्बा-मय' पाठ की धोर भी संकित
 रसिकप्रिया क टीकाकार सरदार कवि न 'निम्बा-मय' पाठ की धोर भी संकित
 किया है। निम्बा और कुपुष्पा धपना ज्ञानि में बड़ा धंतर है। धारण-निगडा
 ज्ञानि का मूल रूप है—दुखमें न भी धपनी निम्बा मुनकर ज्ञानि होती है, फिर
 भी निम्बा और ज्ञानि पर्याय नहीं हो सकते। धोर इसके धर्मिष्टका कुपुष्पा में
 जो धारैरिक्त संवेदन संतर्भूत है उसका तो निम्बा में कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध भी
 नहीं है। धारण यह है कि केदार का रस-विवेचन न तो धर्मिक लक्ष-समय है
 धोर न धारिक। इसमें जो भिन्नता है वह भी किसी लक्ष-मुष्ट धपना मनो
 वैज्ञानिक आचार नर स्थित नहीं है धोर ऐसा प्रतीत होता है कि उसका कारण
 प्रायः अपरिचित ज्ञान ही है। केदार ने शृंगार की रसराजता का विवेचन न ता
 धर्मियुक्त धपना शृंगार-प्रवास की भाँति सूक्ष्म दार्शनिक धपना मनोवैज्ञानिक
 पंक्ति पर किया है धोर न वह धपनी उन मूल बलना का ही निर्वाह कर सके

विचार और विरलेपद्य

है जिसका संकेत उन्होंने धपन मंगल-संभव में किया है। वह कल्पना भी धपने धाप में प्रत्यन्त सार्थक है—“मगवान् मूमत धानन्द धर्षाद् शृगार-रूप इत्थे हुए भी नाता रसमय है। परन्तु केद्यम से इसका भी निर्वाह नहीं हो सका—धनेक्या की मूलवर्ती एकठा का घटन भी वे नहीं कर सके। इसके स्वान पर उन्होंने शृगार की परिधि के भीतर कुछ धनुमाधों की सहायता से रीख बीर, बीमल धादि रसों का समावेश करने का अवफस प्रयत्न किया है। उनकी इस अवफसता का मूल कारण यह है कि किसी रस का परिपाक उसके स्वामी की उद्वृद्धि द्वारा होता है धनुभाव मात्र के चित्रण से नहीं। उदाहरण के लिए रति-रण में कृष्ण ने यह धनुभाव शृगार के ही परिपाक में सहायक होते हैं—उनके द्वारा रीख रस का परिपाक सम्भव नहीं है। केद्यम तथा देव धादि हिन्दी कवियों ने नहीं धीर यह है शृ गार का दो वर्गों में विभाजन प्रच्छन्न धीर प्रकाश। परम्परा स भिन्न होते हुए भी यह कल्पन की धपनी उद्भावना नहीं है—इसके लिए वे मोज के लक्ष्मी हैं। धीर फिर धास्न की दृष्टि स यह विभाजन धार्मिक मौक्तिक एक तर्क-संगत भी नहीं है क्योंकि प्रच्छन्न धीर प्रकाश क मेघ का निर्वाह शृ गार की समी स्थितिया में सम्भव नहीं है प्रीटा स्वकीया का प्रच्छन्न शृ गार सर्वथा कैमे निम सकटा है? या मुग्धा परकीया का प्रकाश शृ गार सामान्यतः कैमे सम्भव हो सकटा है?

भाव के विषय में भी केशवदास म परम्परा स कुछ वैचित्र्य मिसठा है। उन्होंने भाव की परिभाषा भी कुछ विचित्र-नी ही की है धीर उसके पाँच भेद माने हैं।

परिभाषा

धालन लोचन बचन भय प्रकटत नम की बात ।
ताही लीं सब कसूत हैं भाव कविन के ताठ ॥

इसका अर्थ यह है कि धालन लोचन धीर बचन के द्वारा प्रकट होने वाली मन की बात—मनोविकार—ही भाव है। कहने की आवश्यकता नहीं कि वह परिभाषा धत्यन्त धस्यष्ट धीर अपूर्ण है। इसमें सन्देह नहीं कि भाव मनोविकार का ही नाम है धीर जबके माध्यम भी दो प्रकार के ही होते हैं धार्मिक धीर धार्मिक। परन्तु यह बर्णन धत्यन्त स्पून है। सम्भव है केद्यम ने इसका संकेत धार्मिक-सास्व से ही ग्रहण किया हो

धार्मिक-सास्वोपेतान् काव्यार्थान् धावबन्धीति भावः ।
हो सकटा है कि केद्यम ने इसी का धत्यन्त स्पून अर्थ कर दिया हो क्योंकि

दोनों सहायों के शब्दों में बहुत भेद नहीं है 'आचार्य' के स्थान पर 'मन की बात' का प्रयोग करके केदार ने इसे सरल बनाने का प्रयत्न किया हो। केदार ने पाँच प्रकार के भाव माने हैं

भाव सु पाँच प्रकार से, सुनु विभाव धनुभावः।

अस्वार्थ सार्विक कहें ध्यमिचारी कवि-राव ॥

यह भी भरत के आधार पर ही किया गया है। भरत ने भी इसी प्रकार विभाव धनुभाव (जिनके अंतर्गत सांख्यिक भाव भी आ जाते हैं) ध्यमिचारी और स्वामी सभी को भाव ही माना है क्योंकि उन सभी के द्वारा काव्यार्थ का भावन होता है। हाव और मायिका-भेद के प्रसंगों में भी केदार ने कुछ विविधता दिखाई है, पर उनके प्रायः सभी उदाहरित नवीन भेद निरवलाभ और भागुरत में किसी-न-किसी रूप में मिल जाते हैं। उदाहरण के लिए उन्होंने प्रचलित दम हावों के स्थान पर ठेरू हाव माने हैं जिनमें से 'हेमा' विष्णुनाभ का उसी नाम का अंशक धर्मकार है और 'मर्' इति-नाभ्य धर्मकार है। ऐसे ही उदाहरण नायिका-भेद के प्रसंग में दिये जा सकते हैं।

अर्लकार विशेषतः केदार का प्रमुख बध्य विषय है धर्मकार। यह सुन कर सुरेगचन्द्र चर्मा न सोचा कि धर्म तो यह पुरुष काफी सम्बा मानूम पड़ता है—बोझा-ना मध्यावकास मना सेना चाहिए। इसलिए वे कुछ म लषा-यानी न उद्योगवा होने के लिए बाहर बसे गये। मेरा व्याख्यात बसता रहा अर्ल कार के उन्होंने दो बग किए हैं—मामाग्य और विशेष। विशेष के बार भेद है सामान्यार्लकार को चारि प्रकार प्रकातः।

बर्ल, बर्ल भू-राज-भी कुवल केसवदात ॥

अर्थात् बर्ल बध्य भूधी और राजधी। ये वास्तव में बध्य विषय हैं जिनका समावेश इनकी अपनी विषयगत चारुता के कारण काव्य को धर्मरुत करता है। इनके प्रकार के धर्मकार विभिष्टार्लकार हैं जिनके अन्तर्गत उपमा-रूपकादि आते हैं—धुवनशी के चर्चों में वास्तविक धर्मकार ये ही हैं क्योंकि इनका सम्बन्ध बर्लम-धीनी में है। हिन्दी के विद्यार्थी के लिए यह बर्लकरण कुछ नवीन-ना लगता है परन्तु वास्तव में यह पूर्व-ध्वनिदान के प्राचीन आचार्यों की रीत है जो वाचान्तर में काव्य-वास्तव के मिश्रण स्थिर हो जान पर अमान्य पोषित कर देखा गया था। आमतः बर्ल और बामन आदि प्राचीनों ने धर्म कार का करण न मानकर बर्ल माना है। अर्थात् उसे मीथर्व या विद्यापक या एक प्रकार के सौन्दर्य या पर्याय ही माना है। बामन न स्पष्ट मित्रा है 'आध्य' प्राष्टमर्लकारत्। सौन्दर्यमर्लकारः। वाच्य की मार्बता धर्मकार ने है और

धर्मकार का धर्म है सौन्दर्य । इस प्रकार ये धार्मिक धर्मकारों और धर्मकार में भेद नहीं करते—काव्य का विषयगत सौन्दर्य और बर्लन-दीती की भासा दोनों ही इनके धनुषार धर्मकार हैं । इसीलिए बन्धी ने धर्मकार को काव्य-धोसा का विभाजक तत्व माना है— धोसा की वृद्धि करने वाला प्रभावक तत्व या साधन नहीं । इस प्रकार कवि-प्रौद्योगिक-मिथ्य सयी बार्से धर्मकार के धर्म में धा जाती है । ध्वनि की स्थापना के उपरांत मात्र धार्मिकों ने इस प्रक्रिया का निराकरण किया और धर्मकारों को धर्म के उपकरण माना । फिर भी कवि-मिथ्य के धर्मों में इस परिपाटी का अनुसरण होता रहा—काव्य-मीमांसा के उपरांत धर्म की काव्य-रचनात्मकता और उपरांत केवल मिथ्य धर्मकार-सेवा में कवि-मम के रूप में काव्य के धर्म विषय धर्मिता धाम-ध्यात्मकार का विवेचन चलता रहा । केवल ने सिद्धांत बन्धी और काव्य धारि में धर्म बर्लन प्राय धर्म और केवल मिथ्य से प्रकृत किया । इस प्रकार से उपर्युक्त विभाजन न ही केवल की अपनी उद्भावना है और न वह ठर-ठर उपा मात्र है । वह काव्य-साधन के विकास की प्राथमिक अवस्था का चोकर है, विकसित धर्मता का नहीं ।

विद्युत्कारों के विवेचन में केवल बन्धी के पुस्तकता नहीं है । उनके लक्षण और कहीं-कहीं उदाहरण भी काव्यार्थ से लिए गए हैं । केवल के धर्मकार-बर्लन में बन्धी के बर्लन से तीन-चार प्रकार की भिन्नता है कुछ धर्मकारों के लक्षण बन्धी से भिन्न हैं कुछ धर्मकारों का विषय ही हो गया है, बन्धी के कुछ श्रेय केवल ने स्वीकार नहीं किये और कुछ धर्मिकता में ही उद्भावना की है । परन्तु वह भिन्नता केवल के लिए पुनरावृत्ति की बात नहीं है—बन्धी के लक्षणों की भिन्नता तथा धर्मकारों का विषय प्राय प्राथमिक है केवल बन्धी का धारण ही नहीं समझे है । उदाहरण के लिए केवल ने धर्म-कारण्य के उपनेहों के नाम ही बन्धी के अनुसार रखे हैं परन्तु उनके लक्षण उदाहरण भिन्न हैं—स्पष्टता ही केवल महों बन्धी का धारण नहीं समझे । इसी प्रकार केवल की 'धर्मिता' 'मुकरी' बन गई है । 'कव्य-रूपक' साधारण 'कव्य' मात्र रह गया है । कई स्थानों पर केवल ने प्रतीकत्व धर्म को भाविक धर्म ही मान लिया है जिससे धर्मकार ही बन्धी हो गया है जैसे 'धार्मिक' में उन्होंने भाविक विषय को ही धर्मकार का लक्षण मान लिया है । या सभी प्रकार के धार्मिकों में ही धर्मकारत्व मान लिया है । बन्धी के कुछ श्रेय केवल ने छोड़ दिये हैं । धार्मिक के धार्मिक धर्मों में न उन्होंने बाह्य प्रकृत किये हैं, और उदा के धार्मिक धर्मों में न धर्म रह किये हैं, जिनमें धर्म के भाविक भी

मिल है। परन्तु यहाँ भी यह नहीं समझना चाहिए कि केराव न प्रतिव्याप्ति प्रख्याप्ति आदि को दूर करते हुए प्रसकारों में व्यवस्था स्थापित करने के लिए यह काट-काट करी है। केराव ने यह ग्रहण और व्याप सर्वथा मनमाने ढंग में किया है; उसके पीछे न कोई तर्क है और न व्यवस्था। प्रतिरिक्त प्रसकार में ही के लिए भी केराव को कोई विशेष श्रेय नहीं दिया जा सकता क्योंकि उनमें से कुछ तो अमलकाहीन होने के कारण प्रसकार ही नहीं बन सके जैसे मन्दीर्णमा और विपरीतोपमा में औपम्य का ही प्रभाव है प्रत्यक्ष उनको प्रसकार ही नहीं माना जा सकता। प्रभाव में तो किसी प्रकार का प्रसकारण ही ही नहीं—यदि उसे प्रसकार माना भी जाये तो भी वह सामान्यासंकार ही रहेगा। और वास्तव में काव्य-कल्पनाभूति और प्रसकार-खेत्तार में उसका इसी रूप में वर्णन भी है।

श्लेष-विवेचन केराव ने श्लेषों के दो वर्ग किए हैं। प्रमुख वर्ग के अन्तर्गत उन्होंने पाँच श्लेषों की गणना की है

ध्वंश बहिर ध्वंश पंगु तत्रि, वस्त्र, मृतक मतिशुद्ध।

ध्वंश ध्वंसि काव्य-परम्परा के विच्छन्न बहिर जहाँ परस्पर-विरोधी शब्दों का प्रयोग हो पंगु ध्वंश-विच्छन्न मन्म प्रसक्ति निरसंकार और मृतक जिसमें ध्वंस का ही प्रभाव हो। केराव के इन श्लेषों का आचार क्या है यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता—सम्भव है कि वे उनकी अपनी कल्पना ही हों प्रकृत किसी प्रसिद्ध कवि-सिद्धा-ग्रंथ से उद्धृत हों परन्तु इनकी स्थिति कोई विशेष प्रामाणिक नहीं है। उदाहरण के लिए मन्म-श्लेष जहाँ किसी स्वीकृत प्रसकार का प्रभाव हो अपने आप में कोई श्लेष नहीं है क्योंकि मन्मीर आचार्यों ने 'धनमकृति पुन क्वापि' स्पष्ट ही कह दिया है। श्लेष, वास्तव में केराव ने जो श्लेष उद्धृत किया है वह श्लेषपूर्ण प्रकृत श्लेष न होकर मरस श्लेष है—उसमें अक्षि-अमलकार का भी प्रभाव नहीं है चाहे वह अमलकार परिगणित प्रसकारों में अन्तर्गत भवे ही न पाता हो। इसी प्रकार 'मृतक' श्लेष भी प्रसिद्ध-सा ही है क्योंकि काव्य-श्लेष केवल काव्य में हो सकता है और प्रसिद्धीय वाक्य तो भाषा भी नहीं कहा जा सकता काव्य की भाषा तो दूर रही। प्रायेण न केराव ने धनाशे श्लेष में इसी की पुनरावृत्ति की है यद्यपि उस प्रसंग में उदाहरण श्लेष सर्वथा निरर्थक नहीं। इन पाँच श्लेषों के प्रतिरिक्त केराव ने 'ध्वंश श्लेष' कह कर इन और काव्य-श्लेषों का वर्णन किया है। ये प्रायः प्रसिद्ध श्लेष ही हैं जो केराव ने दंडी के लिए हैं। यहाँ भी उन्होंने अनुवाद में प्रभावशाली प्रकृत ध्वंश-श्लेष में कुछ की है—अर्थात् क मरस में दंडी का

कहता है उम्मत-नतबालन्नामुक्तेरम्यत्र बुध्यति । 'अर्थात् उम्मत व्यक्तिओं और नत बालकों की उक्तिवर्षों में निरर्थक धम्याबली का प्रयोग होय नहीं छ पाता । परन्तु केशव ने दंडी के इस सूक्ष्म विवेचन को ब्रह्म न कय्ये हुए मर्यात सूक्ष्म रूप में बह कह दिया है कि 'अतर्थात् उम्मत शिषु के से बचन बहन्नु' अर्थात् जहाँ शिषु अथवा उम्मत व्यक्ति ने से बचनों का प्रयोग हो वहाँ अपार्थ होय होता है ।

अथ प्रसंगा इत प्रमूल प्रसंगों के अतिरिक्त केशव ने कृतियों का और कोड़ा-ठा पिपस का भी विवेचन किया है । कौटिली सात्वती प्रादि कृतियों का सम्बन्ध नाटक से ही है अतएव काव्य-शास्त्र में उनको कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया गया । केशव ने रसिकप्रिया में भरत के नाट्य-शास्त्र में वर्णित यहमन्त्रा भी है अतएव उसी सिद्धिसे में उम्हने अन्त में कृतियों का विवेचन भी कर दिया है । विपक्ष के अतर्पत कविप्रिया का अन्वयण विचार प्रा सक्ता है यद्यपि वह 'अपन्न' बोध के ही प्रसंग में किया गया है परन्तु विवेचन की दृष्टि से वह स्वतंत्र ही हो गया है ।

काव्य-सिद्धान्त और काव्य-सम्प्रदाय केशव को हिन्दी अथवा अर्वाकर बाबी मान चुका है और साधारणतः उनका एक होना ही इस प्रसंग में उद्धृत कर इस स्थापना की सिद्धि कर दी जाती है । परन्तु केशव ने सामान्य काव्य-सिद्धान्त के विपक्ष में रसिकप्रिया तथा कविप्रिया दोनों में कुछ निरिषत आरणाएँ व्यक्त की हैं । उनके मत से कवि तीन प्रकार के होते हैं

उत्तम, मध्यम अथवा कवि, उत्तम हरि रस लीन ।

मध्यम मानत मानुषनि, बोधनि अथवा प्रवीण ॥

परमार्थ-परक काव्य के प्रणेता हरि रस में लीन उत्तम कवि कहलाते हैं अर्थात् केशव के अनुसार परमार्थ अथवा अर्थ और मोक्ष-रूप परम पुरपाशों की सिद्धि ही काव्य का अर्थ नश्य है । मानव-जीवन के कवि जो मानव-चरित्र का सुखान कर ऐहिक आनन्द को काव्य की सिद्धि मानते हैं—मध्यम कोटि के कवि हैं, और परमानन्द तथा लौकिक आनन्द अर्थात् आत्मा और मन दोनों के आनन्द से अर्थात् बोधपूर्ण कवि-कर्मचारी अथवा कवि हैं । यहाँ केशव ने 'रस' शब्द का स्पष्ट उल्लेख किया है ।

कवि की सचने बड़ी धमिल है बाबी जिनक बिना वह आनन्द का शान नहीं कर सकता

उन्हें दिन डीठ न धोमिचे, लोभन लोन विशाल ।

उन्हें ही केशव सकल कवि, दिन वाली न रसान ॥

बहि की रसासता - सरसता का मूल उपकरण है उसकी बाणी
 ठाँसे बहि सुबि सोबि पबि कीई सरस कबित्त ।
 केशव स्वयं सुजात को सुगत होइ बसा बित्त ॥
 यहाँ भी सरस कबित्त प्रथवा कबित्त की सरसता पर ही बल दिया गया
 है और स्वयं सुजात प्रवर्तित् भयवान के प्रसादन को उसकी मिष्टि माना गया
 है। इस प्रकार केसन ने रस का विरस्कार न कर उसके महत्व को पूर्वतया स्वी
 कार किया है। स्वयं प्रनेक दोषों के प्रपञ्चो होकर भी केसन ने दोष को
 कबिता के लिए प्रसङ्ग माना है।

राजत रंज न बोधवुत कबिता बनिता मित्त ।
 नै नापय पूछ भी नहीं कर पाया वा कि समित की धावाइ धार्ड—

बुँदक हाता परत ज्यों गंवा-बद प्रबबित्त ।
 इसलिए सबसे पूर्व उन्होंने दोषों का निष्पण कर कवियज्ञ-प्रार्थी को उनके
 विरुद्ध सावधान कर दिया है। प्रौढ़ावस्था तक पहुँच कर केसन पर प्रसंगिक
 का पात्र बड़ गया। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि यह कवि जैसा कि
 रामचन्द्रिका धारि के प्रनेक धर्मों से स्पष्ट है अपने कथ की परम्परा और
 अपने पांडित्य के प्रति प्रत्यक्ष संश्लेष था। पांडित्य का भीरे-भीरे उस पर
 ऐसा प्रारंभ का गया कि प्रने-गीरव के बोध ने मन की सरस्वती दब गई।
 पांडित्य और प्रने-गीरव कृति-साध्य है और उच्च प्रसंगिक भी प्रने-गीरव की स्पष्ट
 प्रबिक कृति-साध्य ही है इसलिए केसन को पांडित्य और प्रने-गीरव की स्पष्ट
 ने ही प्रसंगिक की ओर धाकट किया यह अनुमान सयाता कठिन नहीं है।
 उनका निदान-वाक्य

जरवि सुजाति सुलताणी सुवरन तरत सुवृत्त ।
 सुपुत्र विन न बिताबई कबिता बनिता मित्त ॥

और रामचन्द्रिका में उनका संयंकर प्रसंगिक-मोह उनकी प्रसंगिक-वाकित्त
 को प्रसंगिक रूप में प्रमाणित कर देता है।
 निष्पन्न यह निष्कर्षता है कि केसन ने पारम्पर में रसवाद के प्रत्यर्थ
 भू गारवार को मान्यता दी और उचित-प्रिया के हाथ हिन्दी में उनका प्रवर्तन
 किया। यह उच्च-प्रतिभासी परम्परा थी जब रसवाद अपनी पूर्ण प्रतिष्ठा के
 उत्तरान नाबिवा-भेद के ज्यों में भू गारवार में सीमित हो गया था। प्रौढ़
 प्रान में केसन की प्रवृत्ति स्वभावतः सरसता से बौद्धिकता की धार होने
 लयी—बौद्धिकता के दो रूप सम्यक से ? बिचार-प्रदान (वार्थनिक) काध्य।
 १ प्रसंगिक प्रदान काध्य। कथन में दोनों को ही प्रहण किया है और पूर्ण

दरबार में रहकर उनका समाज धर्मकार से अधिक वा इसलिये धर्मकार का जासु उनके सिर पर और शबाह बह कर बोझने मचा। धर्मकार की वरिष्ठता मामह, दही, बामन उद्दमट आदि की ध्वनि-धूर्त परम्परा की बिसके अनुसार काव्य का समस्त सौन्दर्य ही धर्मकार के प्राधित का जब सर्व विपद और नर्क-सीमा दोनों ही धर्मकार के अंतर्गत आते थे।

मूल्यांकन रीति शास्त्र में केराय का स्थान—इस पृष्ठभूमि का निर्माण कर लेने के उपरान्त अब केराय के प्राचार्यत्व का मूल्यांकन सहाज ही किया जा सकता है। भारतीय काव्य-शास्त्र में तीन प्रकार के प्राचार्य हुए हैं पहली खेणी में भरत मामह दही बामन धारण्यवर्धन धर्मिण और कुम्भक आदि ऐसे प्राचार्यों का स्थान है जिन्होंने काव्य-शास्त्र के किसी मौसिक सिद्धांत का प्राधिकार कर काव्य-सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि केराय के लिए इस खेणी में तो कोई स्थान ही नहीं है। उन्होंने न किसी मौसिक सिद्धांत की सृष्टि की और न किसी नवीन काव्य-बंध का ही प्रवर्तन किया। यह सब केराय की सामर्थ्य से बाहर था। दूसरी खेणी में वे प्राचार्य आते हैं जिन्होंने काव्य के तर्कों का मौसिक व्याख्यान किया है—इन प्राचार्यों ने काव्य के मूलभूत सिद्धांतों की सूक्ष्म-गहन व्याख्या करती हुए उन्हें व्यवस्थित रूप दिया है उद्दमट, मन्नट विस्वनाथ यदन्नाथ आदि व्याख्याता-प्राचार्य इस वर्ग के विद्युत्पत्त हैं। केराय इस बीरब के भी अधिकारी नहीं हैं। इसके लिए काव्य के मूलभूत सिद्धांतों के तात्विक ज्ञान उनके विभ्रान्त एवं स्पष्ट विवेचन-व्याख्या तथा सुस्थिर व्यवस्थापन-सक्ति की अपेक्षा रखी है। चैता कि हम अभी निर्बंध कर चुके हैं केराय में इन दुनों का प्राबल्य ही है। न उनका ज्ञान ही विभ्रान्त है और न विवेचन ही स्थिर न स्पष्ट है। इस खेणी के प्राचार्यों का सबसे बड़ा पुत्र है व्यवस्था बिसका केराय में एकान्त प्रभाव है। तीसरी खेणी कवि-सिद्धों की है जिनका कार्य होता है विचारधियों तथा रचनाओं की काव्य-सिद्धा के विभिन्न वर्जनात्मक रूप से प्राबल्यक तामसी का संघटन कर एक तरल-सुबोध पुस्तक प्रस्तुत करना। सामान्यतः भारतीय काव्य-शास्त्र की व्यापक भूमिका में विचार करने से केराय कवि-सिद्ध रूप में ही सामने आते हैं जिन्होंने काव्य के दो प्रमुख धर्मों का—रम तथा धर्मधार का—साधारण प्रतिभा और ज्ञान वाले विचारधियों और रतिकर्तव्यों के लिए विस्तार से वर्णन किया है

समुद्धे बाला बालकन, यजन बंध प्रवाह।

कविधिया केराय करी लुबिधु कवि धराराम ॥

यहां केराय ने अपना उद्देश्य स्पष्ट कर दिया है एक तो वे काव्य-वर्णन

विचार और विरलेपद्य

बरबार में रहकर उनका समाज प्रणकार से प्रतिक्रिया इसलिए धर्मना
 जाहू उनके मिर पर घोर स्वाभाविक बन कर बोलने लगा। धर्मकार की
 भामह रंजी रामन उद्भट प्रादि की ज्वनि-मूर्ध परम्परा की जिसके प्र
 काव्य का समस्त मौल्य ही धर्मकार के प्राधित का जब बर्ण किया
 बर्णन-सीमा दोनों ही धर्मकार के प्रतर्गत प्राते थे।
 मूर्ध्यांकन रीति शास्त्र में केराब का श्यान—इस पुष्टमूर्ति का
 कर लेने के उपरंत प्रब केचन के प्राचार्यत्व का मूर्ध्यांकन सहज ही
 सकता है। भारतीय काव्य-शास्त्र में तीन प्रकार के प्राचार्य हुए थे
 धेणी में मरन भामह रंजी रामन प्रागल्भ्यधर्मन प्रमितव प्रौर तु-
 ऐन प्राचार्यों का स्वात है जिन्होंने काव्य-शास्त्र के किन्ती मौलिक
 प्राधिष्कार कर काव्य-मन्त्रदाय का प्रवर्तन किया है। रंजने की प्राध
 कि केमन के लिए इस धेणी में तो कोई स्वात ही नहीं है। उर
 मौलिक मिश्रण की सृष्टि की प्रौर न किन्ती मनीन काव्य-धर्म का
 किया। यह सब केराब की सामर्थ्य न बाहर का। पुत्रपी धेणी :
 प्राते है जिन्होंने काव्य के मर्मान का मौलिक स्वाव्याप्त किया है—
 न काव्य के मूलमूल मिश्रणों की मूर्धन-महान स्वाव्याप्त करते हुए
 क्य दिया है उद्भट मम्मट विस्वनाथ जयल्लाभ प्रादि का
 इस बर्ण के विमूषण है। केमन इस प्रौर के नी प्राधिकारी
 लिए काव्य के मूलमूल मिश्रणों के तात्त्विक ज्ञान उनके नि-
 विवेचन-स्वाव्याप्त तथा मुस्वित्र ध्वनस्वाव्याप्त-प्रक्ति की धयेन
 कि हम धमी निर्भर कर चुक है, केराब में इन पुर्णों का प्रा
 न उनका ज्ञान ही निर्भर है प्रौर न विवेचन ही स्वित्र न
 के प्राचार्यों का सबसे बड़ा पुष है व्यवस्था जिसका केचन :
 तीव्रपी धेणी कवि-प्रिय हों की है जिनका कार्य होता है कि
 की काव्य-मिथा के निमित्त बर्ननात्मक ढंन से प्राधरवक
 एक धरम-सुबोध पुस्तक प्रस्तुत करना। मानाग्यत मा
 व्यापक मुमिका में विचार करने से केचन कवि-प्रिय हों का
 जिन्होंने काव्य के दो प्रमुख धर्मों का—रस तथा धर्मका
 प्रौर ज्ञान प्राते विद्यापिठों प्रौर रचितकजनों के लिए कि
 लमुई बासा बालकन बर्णन प्रय
 कविप्रिया केचन करे, ध्वनिपट्ट कवि
 यहाँ केराब ने धरना उद्भट स्पष्ट कर दिया ?

पक्षि साक प्रास्त्र तथा काम्यारि क प्रवक्ष्यामि से प्राप्त निपुणता तथा प्रत्याय ये तीनों समन्वित रूप न काम्य क हनु है। इन प्रस्त्र संस्कृत काम्य प्रास्त्र में निपुणता प्रवक्षा बहुलता की बड़ी प्रतिष्ठा रखी है। यहाँ तक कि प्रतिमा और निपुणता क बीच प्रतिबन्ध रहा है। राजपक्षर ने काम्य-मीमांसा में प्राचार्य मंगल का उल्लेख करत हुए कहा है कि वे उते प्रतिमा से भी भ्रष्टर मानते थे। धानन्दबचन ने प्रतिमा की धेष्टता स्थापित करते हुए लिखा था—

प्रथम्यल्पितुहो दोष प्रकरया सच्चिन्ते कम्बे ।
 प्रवर्त्त क्वि की प्रतिमा निपुणता क प्रमात्र से उत्पन्न शाय का संवरण्य कर सेती है। इसका उत्तर मयन न जन्ही के प्रश्नों म रिखा—
 कबो संविपतेऽप्रस्तिम्बु त्वस्या काध्यक्षर्त्सनि ।
 क्वि की निपुणता उसकी पक्षि के प्रनाश-दोष का संवरण्य कर सेती है। यह ठा प्रस्तुति हो है। वास्तव में धानन्दबचन का मत ही विवेक-सम्मत तथा तर्क-संगत है। फिर नी इसमें सम्बेह नहीं कि क्वि की बहुलता को हमारे काम्य प्रास्त्र में बड़ा महत्त्व दिया गया है। विवेक ने भी यूनान तथा रोम क प्राचार्यों ने और इतर प्रदेशों प्रादि प्रवर्त्तनीन मापात्रों क साहित्य-प्रास्त्रियों ने भी क्वि की श्रुत्यन्तता पर बहुत बल दिया है। उसके लिए विभिन्न कलाधो विद्याधो तथा उपविद्याधो का ज्ञान अनिवार्य माना गया है।

परन्तु हमें उपर्युक्त मन्त्रियों की सावधानी स पठना करनी होगी। क्या क्वि की बहुलता काम्य की साधक ही हूँगी है क्या उसका कारण काम्य में बाधा नहीं पड़ती ? संस्कृत में मात्र भार्गव प्रादि का ज्ञान विवेक में निश्चय जैसे क्वियों की विद्वता और हिन्दी में केवल गुलामी प्रादि की बहुलता उनके काम्य में निःसम्बेह ही बाधक हुई है। इसीलिये नासिद्ध ने क्वियों की चेष्टावनी की है

इसको दित में है क्यहू नासिद्ध,
 इत्यं से प्राम्यरी नहो पाठी ।

घोर वास्तव में यह काशी हर तक ठीक है। बहुलता काम्य का अनिवार्य गुण नहीं है, काम्य-सिद्धि के साथ उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। हस्ति-विद्या प्रवक्षा उल्लेखनीय का ज्ञान काम्य का संबन्ध देने कर लक्ष्य है एक तो यह हमारी समझ में नहीं पाती। इस विषय में हमारे दो मन्त्र्य हैं एक तो यह कि बहुलता का प्रथं काम्य न सम्बन्ध विषयों के ज्ञान घोर अनुभव की समुद्रि तक ही सीमित रहना चाहिए। घोर हमारे उनका योग प्रत्यक्ष हो मानना चाहिए पर्याप्त वह क्वि के ध्यक्षित्व को निरक्षित घोर समुद्र करके दी है।

पाँच बिहारी की बहुलता

बिहारी की बहुलता का विवेचन करने से पूर्व इस प्रश्न का समाधान करना आवश्यक हो जाता है कि बहुलता और कविता का क्या सम्बन्ध है अर्थात् क्या किसी कवि के काव्य-सौष्ठव में उसकी बहुलता का योग रहता है ? और यदि रहता है तो कितना ? संस्कृत साहित्य-शास्त्र के भाषक के लिए यह प्रश्न नया नहीं है। धारम्म से ही उसमें काव्य के साधनों का विस्तार से विवेचन होता गया है। उन्हें काव्य के सहायक धर्मों काव्य-हेतुक कहा गया है। वे काव्य-हेतुक तीन हैं। धर्मित त्रिपुण्ड्रा और धर्मास। संस्कृत काव्य-शास्त्र में इस बात पर काफ़ी ध्यान दिया गया है कि कवि को भुक्तान होना चाहिए। उसका शोक और सास्त्र का ज्ञान व्यापक होना चाहिए।

भरत मुनि ने प्रकथनम्भर से इसका निर्देश किया है—

न तत् शर्म न तत् शिष्यं, न सा विद्या न सा कला ।

न स पोषी न तत् कर्म, नाद्येऽतिवन् यन्न बुद्धयते ॥

धर्मित् नाटक में तभी प्रकार के ज्ञान शिष्य विद्या, कला बुद्धि, कर्म धारि का उपयोग रहता है। वाचन से इसको स्पष्ट करते हुए लिखा है—लोक, विद्या और प्रकीर्ण से तीन काव्य के सहायक धर्म हैं। लोक का धर्म है लोक-व्यवहार। धर्म-शास्त्र कोट धर्म-शास्त्र कला इण्नीति राजनीति धर्मशास्त्र धर्म-शास्त्र धारि विद्यार्थी हैं जिनका अध्ययन काव्य-रचना से पूर्व उपेक्षित होता है। राजसेनर ने इस सूची को और भी विस्तृत कर दिया है। "मृति स्मृति, इतिहास पुराण प्रमाण-विद्या धर्मित् दर्शन समय-विद्या अथवा तन्म-शास्त्र राज-शास्त्रधर्म धर्मित् धर्म-शास्त्र नाट्य-शास्त्र तथा काम-शास्त्र लोक-व्यवहार रचना धर्मित् कवि-प्रतिभा-ज्ञान काव्यकथारि प्रकीर्णक शिष्य के धर्मित् स्ति-मिद्या रत्न-वरीया धारि की गणना की जाती है, उनिन संयोग कोण योग ज्ञानाद्य-संबन्ध और नयोन-विचार धारि काव्यार्थ के मूल हैं। धर्म में स्पष्ट न इन विवेचन को व्यवस्थित रूप देते हुए कहा—

परितन्निपुणता लोकशास्त्र काव्याद्येवैवलात् ।

काव्यकथारिपाम्पात इति हेतुस्तद्बुद्धये ॥

भक्ति भाव धारण तथा काव्यादि क अवधारण न प्राप्त निपुणता तथा धारण्य वे दोनों समन्वित रूप में काव्य क हनु हैं। इस प्रकार संस्कृत काव्य मात्र में निपुणता धारण्य बहुलता की बड़ी प्रतिष्ठा रही है। यहाँ तक कि प्रतिभा और निपुणता के बीच प्रतिष्ठान्त रहा है। राजधर न काव्य-मीमांसा में प्राचार्य मंगल का उल्लेख करते हुए कहा है कि वे उस प्रतिभा से भी भयानक मानते थे। धानन्दबर्मन ने प्रतिभा की व्यष्टता स्थापित करते हुए लिखा था—

अभ्युत्पत्तिरुतो दोषः शक्योऽपि सते कवेः ।

अर्थात् कवि की प्रतिभा निपुणता क अभाव से उत्पन्न दोष का संवरण कर लेती है। इसका उत्तर मयस ने उन्हीं के शब्दों में दिया—

कवेः संक्षिप्तोऽप्रकृत्युत्पत्त्या काव्यधरमपि ।

कवि की निपुणता उसकी धरिण के अभाव-दोष का संवरण कर लेती है। यह तो अत्युक्ति ही है। वास्तव में धानन्दबर्मन का मत ही विवेक-सम्बन्ध तथा तर्क-संपत् है। फिर भी हमें मन्त्रेह नहीं कि कवि की बहुलता को हमारे काव्य धारण्य में बड़ा महत्व दिया गया है। विदेश में भी यूनान तथा रोम क प्राचार्यों न और इधर धर्मों की धारि अर्थात्मीम मायाभा क माहिर-धास्त्रियों ने भी कवि की अत्युत्पत्ता पर बहुत बस दिया है। उसके लिए विभिन्न कलाधो विद्याधो तथा उपविद्याधो का ज्ञान अनिवार्य माना गया है।

परन्तु हमें उक्तुं बत मन्त्रियों की सावधानी से परीक्षा करनी होगी। क्या कवि की बहुलता काव्य की साधक ही होती है क्या उसके कारण काव्य में बाधा नहीं पड़ती? संस्कृत में मात्र भार्गव धारि का ज्ञान विदेश में मिश्रण जैसे कवियों की विद्वत्ता और हिन्दी में केसव तुलसी धारि की बहुलता उनके काव्य में निःसन्देह ही बाधक हुई है। इसीलिये मासिष्ठ न कवियों को बतावनी की है।

इसको विल में से अणु बाधित,

इसमें से प्रापरी नहीं जाती।

और वास्तव में यह काव्य ही तक लीक है। बहुलता काव्य का अनिवार्य गुण नहीं है, काव्य-मीमांस के साथ उक्त प्रत्यस सम्बन्ध नहीं है। इति-विद्या यथा एत-परीक्षा का ज्ञान काव्य का संबन्ध देने कर ठकता है, यह बात हमारी समझ में नहीं आती। इस विषय में हमारे का मन्त्र्य है एक तो यह कि बहुलता का धर्म काव्य न सम्बन्ध विषयो क ज्ञान और अनुभव ही समुचित ठक हा भीमित रखना चाहिए। और हमारे उक्त प्रत्यस हो मानना चाहिए अर्थात् यह कवि क अत्युत्पत्ता का विद्वित और समुचित ठकके ही काव्य

कसा स भी निस्सम्बह उनका सम्पक था । विहार का भी प्रमुख था । और इसके प्रतिरिक्त लाक-सम्बहार स भी यह व्यक्ति बनिष्ठ रूप से प्रगत था ।

सबसे पहिले दर्शन का ही लीजिए । वदन स सबस बिहारी क कुछ राह प्रत्यन्त प्रसिद्ध है

बे समझी निरवार यह अब काँचो काँच तो,
एके रूप अपार प्रतिबिम्बित ललियतु बहो ।

जहाँ तक इस दोहे के साधारणत सिद्धान्त का धर्म है वह तो प्रत्यन्त प्रसिद्ध है और यह बिहारी को दर्शन-शास्त्र का विज्ञान सिद्ध करने के लिये सर्वथा प्रसिद्ध है । परन्तु कच्छ काँच का उपमान वास्तव में प्रत्यन्त सटीक है और कदाचित् मौलिक भी क्योंकि ब्रह्मन्त में जल-सरस घट-मुलिका आदि प्रत्य रूपका का प्रमाण तो प्रायः हुआ है परन्तु प्रतिबिम्बवार के स्पष्टीकरण के लिए कदाचित् कच्छ काँच का प्रयोग देखने में नहीं आया । प पचासहू धर्मा ने भी सिद्धान्त के विषय में तो धनैक उदाहरण दिये हैं परन्तु इस उपमान का समा नान्तर प्रभाव किसी में भी नहीं है । कदाचित् यह सूत्री-भावना है । ऊपरही स इस प्रकार के उपमान प्रायः मिलते हैं । जायसी ने सरवर को बिम्ब-द्राहक मानकर इसी प्रकार का भाव व्यक्त किया है । इसी प्रकार रघन-विषयक धर्म्य दोहे भी किसी गहन दार्शनिक अध्ययन के पात्रक नहीं हैं । उनके धन्तर्भूत अन्य सिद्धान्त प्रत्यन्त प्रसिद्ध और साधारण हैं । उदाहरण के लिए

धनो धर्योला ह्यो रह्यो भुक्ति सेवत इक धर्म
नाक बात बँतर लह्यो बधि मुकलन के धर्म ।

यहाँ साधु-संघर्ष का साहाय्य बताया गया है जो मध्य-युग का प्रत्यन्त प्रसिद्ध सिद्धान्त था । धर्म्य दोहों में भी सगुण निर्द्वेष धर्म-तत्त्व तथा ब्रह्मवार आदि से सम्बन्ध प्रत्यन्त साधारण सिद्धान्तों की बर्णा है जिनसे इस बात का कोई निरिक्त प्रमाण नहीं मिलता कि बिहारी ने दर्शन-शास्त्र का सांख्यीय विधि से अध्ययन किया था ।

हरि भक्त प्रभु बीडि रे, मूल-विस्तारन-काल ।
प्रथमत नियम निकट ह्यो धर्म-रंय दोषाल ॥
बुधि धनुनाल प्रमास्य भुक्ति किये भीति इहस्य ।
मूलन कति परबद्ध की प्रत्येक लखी नहि जाय ॥

दर्शन क प्रतिरिक्त पुराण आदि क भी सतबई में बतियन प्रसंग पाये हैं । बिहारी जैसे ध्युलन बधि क लिए पुराण-ज्ञान मर्यादा स्वाभाविक हो था । शास्त्र में मध्य-युग में बर-शास्त्र की धपथा पुराणा का ही प्रचार धरियन

विचार और विश्लेषण

बिरह-विद्या-जल-परत विन बधियत मो हिम-ताल ।
 कछ जलत जल-धम्म विधि दुरबाधन लो लाल ॥
 इन शब्दों में दुर्योधन की जल-स्तम्भ विद्या का उल्लेख है। इसी प्रकार
 दुर्योधन के अन्तिम समय की स्थिति का भी एक अन्य दोहे में प्रथम धामा है
 फिम-विद्युरत को बुसहु बुख हरवि जल प्योवास ।
 दुरयोधन लो देखियत तज्जल प्रस इहि बाल ॥
 इसका अनिर्दिष्ट रामायण-महाभारत के कुछ और भी प्रसंग हैं। परन्तु
 वास्तव में वे अत्यन्त प्रबलित और सर्वविधित हैं, उनका लिए विशेष अध्ययन
 की कोई अपेक्षा नहीं है।
 बिहारी का एक अन्य प्रिय विषय है ज्योतिष और वास्तव में उसका जन्म
 विषय अध्ययन किया प्रतीत होता है। सतसई के बहुत-से दोहों में ज्योतिष
 का जलकार है। कुछ के प्रसंग तो वास्तव में बिहारी के तद्विषयक विषय का
 एक घातक है—

मंगल विन्दु सुरय, मुख सति कतर-भाङ्ग मुख ।
 इक नारी लहि संग रघुमय किम लाजब कपल ॥
 ज्योतिष का सूत्र है कि जब मंगल बुधस्वति और चन्द्रमा एक तारी में हों
 तो पृथ्वी पर समुद्र टूट पड़े।

एकनाडी-समायुक्ती चन्द्रबो धरली सुली ।
 यदि तत्र मन्वेन्नीवास्तवा एकार्धवा मही ॥
 इसी प्रकार—

सनि कज्जल बख भव सण्ड उचर्यी मुचिल लवेहु ।
 बयोन नुपदि लो मोमई लहि नुवेत सब वेहु ॥

गुला-कोरक-मोनस्वो मन्मस्वोस्त्रि धनीरघट ।
 कपोलि नुपतेर्भम्य बंघे ब नुपतेर्भेति ॥

धर्मा —

गुला मल और मीन का धनि यदि लम्ब में पड़ा हो तो इस बाप में अन्य
 सेने वाला राजा होता है। बिहारी के दोहे में इसी ज्योतिष-सिद्धान्त का जलकार
 है। इसमें सन्देह नहीं कि ये दोनों प्रसंग धर्मामय्य हे और विशेष ज्ञान की
 अपेक्षा रखते हैं। बिहारी ने ज्योतिष के सिद्धान्तों का प्रयोग भी अपेक्षाकृत
 अधिक ही किया है। परन्तु प्रसंग यह उल्टा है कि यह प्रयोग काम्य में कहीं तक
 नहायक है। नमैं नबह मही कि इनके द्वारा उक्ति-जलकार में बुद्धि होती है।
 धर्मता का भी उल्लेख सधित होता है। जब की विज्ञता का भी परिचय निश्चय

है। परन्तु रसानुभूति में ता विमम्ब क कारण विभ्न ही उपस्थित हुता है।

बिहारी क प्रथम प्रिय विषय है बचक क्सा राजसी कौतुक-बिनाह घादि। इसमें स ज्वातिप घौर बचक का ज्ञान बाह्यण होने क नात क्सा का ज्ञान कवि होने क नात घौर कौतुक-बिनाह घादि से घमिन्नता राज-वारिपब होने के नात बिहारी क सिध स्वाभाविक ही नहीं घाबस्यक नी थी। उन्हाने कुस्र-एक दोहों में नाड़ी-निदान विषय न्बर, मुबसंग पारव घादि का सिमट्ट प्रमाय किया है — घनेक दोहों म कन्तूरबाबी पतगबाबी नटों क बस भिकार घादि राजसी कोड़ा-बिनोर्षों का उन्नेब किया है घौर ब-भार दाहा में स्वापत्य तथा विभ-क्सा घादि क भी प्रमय मिसठ है। परन्तु जैसा मैने घभी कहा ये सब कवि की बहुलता घबबा घ्यापक पादित्य क परिचायक न होकर उसकी घ्यापक दृष्टि के ही घायी है।

इम प्रसंग म इन सब स घधिक महत्वपूर्ण में उन दाहा को मालता है जिन में सामयिक परिस्थितियों का विभण मिसठा है। बिहारी की तीक्षण दृष्टि ने घपने घुब के समाज घौर उसकी दुर्बलताघों का सम्यक रूप स घबलोकन किया है। पुरोहितों का पाषण्ड ज्योतिषियों की उबाड़-मछाड़ बैबा की पाल-मट्टी सामाजिक मर्पादाघों का सैधिस्य बढ़ती हुई विभासिता घादि पर बिहारी न तीखे ध्यन किये हैं। धर्म के धन में किस प्रकार मत-मतान्तरो का विबाह घय रू मया वा साम्प्रदायिक रुढ़िबाह न्न बालबाला या जीवन का उन्नघन करन वासा धर्म उपेक्षित हो रूया या—बिहारी क सामने यह सब-कुछ स्पष्ट या घौर उन्हान घपने दोहों के घत्यन्त संकुचित कमेवर में भी इन परिस्थितियाँ का निर्घष किया है। राजनीतिक परिस्थिति पर भी बिहारी की दृष्टि बई है घौर उन्होंने त्रिपज (बामारकी) हिन्दू राजाघा की हिन्दू-बिरोधी नीति नरेषों की निरंकुशता घादि पर मामिक व्यग किये हैं। रीति-काव्य पर घसामाजिकता का घाघय प्राय घब रुढ़-सा ही हा क्या है। बहु सर्वबा घनुचित भी नहीं है। फिर भी रीति-कवियों न घपन डंग स सामाजिक घालोपना प्रस्तुठ की है घौर, बिहारी-सतसई उपा घनेक काव्य इसके प्रमाण है।

घब ठक हमने जिन विषयों को बर्षा की ये सब काव्य के सहायक माध है। इनके घतिरिक्त काव्य काव्य-शास्त्र काम-शास्त्र घादि का ता बिहारी क काव्य से प्रत्यस सम्बन्ध ही वा। बिहारी की इस विषा में घष्ये गति थी। संस्कृत प्रादुठ घपघघ तथा घुबबर्षी हिन्दी काव्य का उन्होंने गहन घम्ययन किया या काव्य-शास्त्र तथा उसके विभिन्न घर्षों रम-शास्त्र घलका-शास्त्र नायिक-भेद घादि का उनका निर्भान्त ज्ञान वा। इन शास्त्रा की बायीकियाँ उन

के बोर्हा में सर्वत्र मिलती हैं। रस के अन्त में उसके विभिन्न भवदश-शृंगार के अन्तर्गत अनुभाव सात्विक भाव यत्नज और अयत्नज अमकार, काम दशा आदि का बितना सूक्ष्म और स्पष्ट वर्चन बिहारी-सतसई में मिलता है उतना अन्वय कुसुम है। इसी प्रकार अलंकार-शास्त्र तथा नायिका-भेद और उसके आचार मूल काम-शास्त्र से भी सतसईकार का अनिष्ट परिचय था। बिहारी-सतसई यद्यपि लक्ष्य-अन्वय ही है तथापि अलंकार और नायिका-भेद के बितने स्पष्ट उदाहरण उसमें मिलते हैं उतने तथाकथित सभ्य-ग्रंथों में नहीं मिलते।

इस प्रकार शास्त्र की दृष्टि से बिहारी के वाच्य-व्यक्तित्व के तीनों ही अंग—
 अक्षिप्त निपुण्यता और धम्म्यास—सम्बन्ध परिपुष्ट हैं। नबोमेप यदि प्रतिभा का गुण है तो बिहारी के पास उसका प्राकृत्य था। धम्म्यास भी जीवन में केवल ७०० के लगभग शब्द पढ़नेवाले बिहारी से अधिक किसने किया हुआ? परन्तु इन दोनों की अपेक्षा तीसरा अंग श्रुत्यन्तता और भी अधिक परिपुष्ट है। साक और शास्त्र का अपनी सीमित परिधि के भीतर बितना सूक्ष्म अध्ययन बिहारी ने किया था उतना अनेक कवि नहीं कर सक। श्रुत्यन्तता का अर्थ वास्तव में केवल पाठित्य अथवा बहुज्ञता या जानकारी तक ही सीमित न करके साहित्यिक परिष्कृति मिटरेरी क्लृप्तर मानना चाहिये क्योंकि इसी रूप में उसकी सार्थकता है। धर्मशास्त्रों के हृदयच्छेद या तर्कों की कलाबाजी का काम अर्थ की साधना में सहायक भले ही हो सक काव्य की साधना में वह कोई विधेय प्रत्यक्ष मान नहीं दे सकेगा।



छ तुलसी और नारी

तुलसी क यह सौनाम्य धीरे दुर्नाम्य बानो ही रह है कि भारतीय परम्परा न उन्हें सौनाम्यक महात्मा पहुँचे धीरे कवि बाप मं माना है। इस दृष्टि म उनक प्रथ हमार लिए आधार-शास्त्र का काम भी करते रहे हे। तुलसी क प्रकार प्रामाण्यक मुक्त की न भी उनक इस रूप पर ही अधिक बल दिया है। परि नामत आज तुलसी क साहित्यिक महात्मा क मूर्त्यांकन म भी उनक मतिक-माया जिक प्रश्नों का उत्तर देना अनिवार्य हो जाता है। जब तुलसीदास क समर्पक धीरे शक्तों न उनक काव्य पर सामाजिक आधार-शास्त्र का धारोप किया ता स्वभावतः ही प्राकृतिक नारी की उद्बुद्ध चेतना न महादयता क ग्यायानय म ध्यान प्रति म्वाय की माँग की।

तुलसीदास के रामचरित-मानस तथा अन्य ग्रंथों में विभिन्न प्रसर्ग म ऐसी घनेक उक्तियाँ है जा किसी भी देश-काल को नारी के प्रति किसी रूप में भी म्वाय नहीं करती। ऊँहल नारी की प्रकृति उसक चारिध्व बुद्धि-विवेक आधार व्यवहार सभी की निर्या की है। पहुँचे प्रकृति का लीबिए

स्वयं भगवान् शंकर के श्रीमुख से जनकम्मा लठी के म्वाय स नारी की प्रकृति का वर्णन सुनिए

बृन्तु लतो लव नारि सुभाऊ ।

सतय धस न धरिय उर काऊ ॥

इसक धाये कवि की टिप्पणी है

सती कीम्हू पहुँ लहूँ बुराऊ ।

देखतु नारि सुभाऊ-प्रभाऊ ॥

भरत रामचरित-मानस के सर्वभेष्ट पात्र है। वे तुलसी क मत स मानव-रूप क धारक है। नारी की प्रकृति के विषय में उनकी धारणा सर्वथा प्रतिकूल है

बिचिहु म नारि हृदय-वलि जानी ।

सकस कपट धय धवयन जानी ॥

उपर राजस्य भरत क लक्षणा त्रिपगत तुलसीदास की धारणा क धनुवार

अमानव-रूप का प्रतीक है। परन्तु नारी की प्रकृति क विषय में तुमसी के प्राचीन मानव धीर अमानव दोनों का एक ही मठ है। उभरस के मध्यों में

नारि कुभाव सत्य कवि कह्यही ।

उभरगुण धाह सदा उर रह्यही ॥

साहस धनुत अफसता बाया ।

अय अविभेक असीध अबाया ॥

इस प्रकार तुमसीदास के दो सभवा प्रथीप पात्र नारी के विषय में एकमत हैं। और यह धारणा केवल पुरुषों की ही नहीं है नारी स्वयं भी अपने विषय में यही सोचती है।

राम से अहरी कह्यती है

अकम तं अयम अकम अति नारी ।

तिन्तु मरुं मे मति मन्व वधारी ॥

उपर भवती अनुसुवा भी नारी को सहज अपावन ही मानती है "सहज अवाक्य नारि ।"

ये दो हुए व्यक्तिवों के विचार। समष्टि का निर्णय भी नारी की प्रकृति को हुए ही ठहराता है। यबोध्या का अनमत है

अत्य कह्यि कवि नारि-नुभाह्य ।

सम विवि अय्यु अवाव कुराह्य ॥

धीर अन्त में निष्कप्य रूप में स्वयं तुमसीदास को बोध्या है कि नारी स्वतन्त्र होकर कार्य अष्ट हो जाती है विवि स्वतन्त्र होइ विवरहि नारी।

प्रकृति के अतिरिक्त नारी की बुद्धि और विवेक के विषय में भी तुमसीदास का मत भिन्न नहीं है। सती के सभ्यों में स्वयं नारी अपनी बुद्धि के विषय में कहती है

सती हुअव अनुभाव किय, सब अगत अरुअ ।

कीन्तु कपदु में अंभु सन, नारि सहज अइ अह्य ॥

अपनी सहज अह्यता के कारण यह सत्व-वर्धन भावि की अधिकारिणी नहीं है "अहवि जोविता अहि अधिकारी।" इसी प्रकार उक्त आचार-अवधार को भी तुमसीदास ने मस्तिन ही माना है

कहूं हम सोक-वेद-विधि-हीनो ।

सपु विव कुल करतुति मनीनी ॥

उनकी दृष्टि में नारी का सामाजिक गौरव अतिथि है इसका अर्थ भी आपको मर्षादा-नुस्योत्तम अपवात राम के सभ्यों में दिस जायेगा। अहम-अकि

के पक्षर पर शोक-विह्वल राम इस दुर्बटना का समस्त बोध मारी के ही मन्त्रे कर रहे हैं

येहूँ धरब कवन मुह लाई,
मारि-हेतु प्रिय भाइ गवाई ।
बर धपबस कहतेई जनमाहीं
मारि-हानि बिषेय जति नाहीं ।

यहाँ राम शोक में व्याकुल होकर न केवल क्षत्रिय की बरम् साधारण पुंस्य की आत्म-मर्यादा का भी त्याग कर देते हैं। स्त्री का हत्या पुंस्य के पीत्य के लिए सबसे बड़ी जुनौती है परन्तु यहाँ ऐसा प्रतीत होता है मानों मारी के प्रति पठनकामीन हिन्दू-समाज की हीन भावना राम पर भी हावी हो जाती है।

तुलसीदास का सबसे भयंकर प्रहार मारी के क्षमिनी रूप पर हुआ है। उन्होंने उमादि धार्ष्ण्य पात्रों द्वारा परोक्ष रूप से और उबर स्वयं प्रत्यक्ष रूप से अपने स्वार्थों पर मारी के इस भयंकर बर्तरे की चेतावनी दी है। पपासर के किनारे नारद-मुनि को सावधान करके हुए जगन्नाथ राम कहते हैं

मुनि मुनि कह पुरान् मुति सन्ता ।
मोह विविध कहै मारि बसन्ता ॥
जप तप नेज जलात्म्य ज्यारी ।
होइ प्रियन सोखइ सब मारी ॥
पाप उलूक-निकर सुखकारी ।
मारि निबिड रजनी भँबियारी ॥
बुधि बस सोल जय सब मोना ।
बनसी सम प्रिय कहहि प्रबीना ॥

मारी मोह-रूपी विविध के लिए बसन्त के समान है, जप-तप नियमादि जमातियों को वह शीघ्र ऋतु के समान लुका देती है। पाप-रूपी उलूकों के लिए वह निबिड रात्रि के सदृश मुखपायी है और बुद्धि बस सोल तथा सत्य-रूपी मीनों के लिए बरी के समान है।

उसमें तबम कर इतना पार धमाक है कि भ्राता पिता और पुत्र किसी भी सुन्दर पुंस्य को देखकर वह रसाई हो जाती है

भ्राता पिता पुत्र, उरबारी,
पुंस्य धनाहर, निरजत मारी,
होइ बिकस सब मनहि न रोकी,
जिबि रबिननि इव रबिहि बिनोकी ।

इसीलिए तुलसीदास अपने मन को बार-बार सचेत करते हैं
 बीपतिबा सन बुबलि तन मन अनि होइ पतंग ।
 भजन राम, तबि काम भव, करतु सदा सतजन ॥

क्याकि पुरुष के लिए स्त्री बार सजु से भी अधिक बारण है—उसकी सम्भरता
 मृत्यु से कुछ ही कम समझिए । इसका प्रमाण है जयम-कुण्डमी जिसमें नारी का
 स्थान कारण बेरी और मृत्यु के बीच में पड़ा है

जयम-वज्रिण्य बरति के देखतु मनहि विचारि ।
 बाहन बेरी मोचु के बीच बिराजति नारि ॥

तुलसी दादा अपनी सफाई में क्या कहते यह कहना तो मात्र सम्भव नहीं
 परन्तु उनके कर्तों और प्रसंगों ने उनकी ओर स धनक तक प्रस्तुत किये हैं
 जिनका सारांश इस प्रकार है

१ तुलसी का काव्य व्यक्ति-परक काव्य न होकर वस्तु-परक काव्य है ।
 उन्होंने अपनी व्यक्तिगत भावनाओं और विचारों की अभिव्यक्ति न करके कथा
 का वर्णन किया है जिसमें प्रसंग और पात्र क अनुसार धनक प्रकार के भाव और
 विचार व्यक्त किये गये हैं । अतएव सभी उक्तियों का तुलसीदास पर ही आरोप
 कर देना म्याय नहीं है । रामचरित-मानस में मित्र प्रकृति के मित्र-मित्र पात्र
 हैं जो अपनी परिस्थिति और मनोरथा के अनुकूल प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं
 उदाहरण के लिए मरत धरबा राम की बापों छोके और धारम-मानि की कातर
 बाणी है, और सबरी तथा राम-नारिणों के सब उनकी अविषय कृतज्ञता और
 बिनम्रता को ही व्यक्त करते हैं । जयर भ्रता पिता पुत्र परबाते' धारि का
 सम्बन्ध सूर्यसुखा से है और सती की धारम-मानि—'नारि छहूज बहु धर'—का
 सम्बन्ध भी उनके अपने धरान-जन्य धरबा से ही है । इसी प्रकार उबल स्वयं
 दुष्ट पात्र है अतएव उसके सब तुलसीदास के धरम कैम हो सते हैं ?—तुलसी
 दास के अधिवक्ता कथाकार कवि क धरवैविकर रूप (Impersonality
 of the poet) का उर्क उपस्थित करते हैं ।

परन्तु यह उर्क पक्षिक सक्त नहीं है । पहले तो तुलसी जैसे भक्त कवि की
 कविता को एकान्त वस्तु गरक मानना ही धरसक्त है । स्वयं उन्होंने ही अपनी
 काव्य-रचना को स्वान्त-मुखाय कहा है और यह धरबाद नहीं नवाकि वास्तव में
 भक्त कवि की चेतना मूलतः बाहु-गरक हो ही कैम सक्तो है ? वस्तु-परक दृष्टि
 की पहली धरत है वस्तु धरवैविकर पाचिय जगत की मरता में धरबन विस्वाम और
 मक्त क लिए भाव जगत ही सब कृष है । इस धरबे में जो लोग धरमपियर का
 उदाहरण बकर तुलसी का धर-जमर्बत कते हैं वे जान और मरर रंकों में धर

करना नहीं जायत — इसके प्रतिरिक्त तुलसी की पूर्वोक्त पंक्तियों की परीक्षा करने पर भी इस मुक्ति का सहज ही प्रतिबाध हो जाता है। उदाहरण के लिए ये पंक्तियाँ ही लीजिए

भ्रता पिता, पुत्र, परपारी,
पुत्र्य मनोहर निरकल मारी
होइ बिकल मन सकहि न रोकी
बिधि रबिमनि इव रबिहि बिलोकी ।

यहाँ तक कटुता का सम्बन्ध है। मेरी धारणा है कि मारी के प्रति इससे अधिक अन्याय नहीं किया जा सकता। कहाँ मारी का पवित्रतम वात्सल्य मातृ कहीं "इव"सभ्य की बोधत्वता। कहा जा सकता है कि यह निम्ना द्रष्टा पूर्वपक्षा की है साधारण मारी की नहीं। परन्तु ऐसा नहीं है। ये पंक्तियाँ पूर्वपक्षा के प्रथम में प्रथम कही गईं हैं किन्तु उसके लिए नहीं कही गईं। यह मारी व्यक्ति की भर्त्सना नहीं मारी-जाति की भर्त्सना है। और ये एक पात्र द्वारा दूसरे पात्र को उद्दिष्ट कर नहीं कही गईं। ये तो काक्युगुण्डि द्वारा गच्छ सं कही गईं हैं—दूसरे व्यक्तियों में स्वयं कवि की ही सामान्य टिप्पणी है। इसी प्रकार अनेक उक्तिव्यों में तो पात्र बीच में पाते ही नहीं—ये प्रत्यक्ष कवि-वचन हैं यथा—

बिधि स्वतन्त्र होइ बिबरहि मारी ।

दूसरा एक तुलसीदास के पद्य में यह दिया जाता है कि उन्होंने सभी स्त्रियों की निन्दा नहीं की जिनको निन्द्य समझ है उन्हीं की निन्दा की है।

सोता कौसल्या मुनिना पशुमुसा यहाँ तक कि मन्तोदरी के प्रति भी उन्होंने घटीम भया व्यक्त की है और उनके उज्ज्वल चित्र अंकित किये हैं। परन्तु इसके उत्तर में तीन प्रतिमुक्तियाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं एक तो यह कि सोता कौसल्यादि की महिमा का वर्णन तुलसी न केवल राम के माते से ही किया है—

बाते सबहि राम लों मनियत धव्य मुसेख्य अहाँ लों ।

इन पात्रों की महिमा भूमत राम की ही महिमा है। मन्तोदरी की महिमा इसलिये है कि वह राम के सिध अन्न पति न भी मङ्ग बैठनी है। यदि राम बीच में न होते तो जाने तुलसीदास उनका विषय में क्या कहते? दूसरी बात यह है कि इन पात्रों के व्यक्तित्व भी अन्न अन्न में कोई विषय प्रबल नहीं है। राम का हृद्य कर यदि अन्न लीला के स्वतन्त्र व्यक्तित्व का बिन्दोपण करें तो उसमें बाधित राबिन और इत्यादि वा अभाव पायेगे। परम पुत्र्य की धारि राबिन

सीता के व्यक्तित्व में जो शक्ति और प्रखरता होती पाहिए वह तुमही की सीता में नहीं है। वे राम की छाया मात्र हैं। तुमही ने वास्तव में मध्यकालीन हिन्दू परम्परा के अनुसार सीता का पुत्रियानुमा बहु-विध ही अंशित किया है।

पसप पीठ तबि बोर द्विबोरा । सिय ब बीन्ह पनु अरनि कबोरा ॥

× × / ×

सिय बन बसिहि छल केहि घांठी । बिब सिद्धि कबि देखि अरणी ॥

× × × ×

अरविही और पहन सुबि धारै । मुक्कोबनि तुम्ह भोष सुधारै ॥

हंसपबनि तुम बहि बब बीपू । सुबि अयबब मोहि बैरहि सोपू ॥

काल राक्स के सामने ही दो-यक पनघर पर उनकी परम शक्ति उद्बुद्ध होती है। पर वहाँ भी उनको अपने बल की धमका राम के बल का ही अधिक बरसा है।

अल सुबि नहि रभुबीर बल की ।

तीसरी प्रतिमुक्ति यह भी वा सच्यती है कि माय भीषिण तुमही ने सीता कोश्रम्यादि क्य महिमा-मान किया भी है फिर भी तो वह व्यक्तियों का ही महिमा-मान हुआ नाटी पाति की तो उन्होंने सदा निन्दा ही की है। स्पष्टि को धरुण्ड हुए कहना तो प्रसंग पात्र मनोबसा प्रादि पर निर्भर हा सच्यता है, परन्तु समष्टि को बुरा कहना तो कबि की सामान्य बारखा को ही व्यक्त करता है।

तुमहीबाध के समर्भक एक ठक यह देते हैं कि कबि पर देस-काल वा प्रभाव वा। उस युग में स्त्रियों की बधा अत्यन्त हीन थी वे वास्तव में ही अन्न नठिमन्त्र तथा लोक-वेद-विधि-हीन थीं। इसके प्रतिरिक्त मध्यकालीन दृष्टिकोण भी नाटी को केवल पीषन का उपकरण धरना वाली ही मानता वा अथएव तुमहीबाध ने अपने युग की स्थिति तथा विचारधारा के अनुकूप ही नाटी क्य विनय किया है। यह ठक साधारण कबि के लिए वा ठीक हो सच्यता है, तुमही जैसे अन्त द्रष्टा कबि के लिए नहीं। और फिर, मूर ने ऐसा क्यों नहीं किया ?

तुमही के पक्ष में बीषा ठक और भी प्रसंग है। तुमहीबाध संत पे और उम्हाने अपने स बों में जहाँ अन्नक बातें साधारण गृहस्थों के लिए कही हैं, वहाँ कुछ बातें संतों के लिए भी कही हैं। नाटी-निन्दा उन्होंने अपने और अपने समान-धर्म संतों के मन को सन्नत करने के लिए की है। मुक्त भी कहते हैं कि यदि पुरुष-कबि तुमहीबाध ने नाटी को पुरुष-वचनों के लिए शीघ्रिबा बहा तो स्त्री-कबि पुरुष को नाटी-वचनियों के लिए भाङ कह सच्यती है। इनमें सदेह नहीं

कि तुमसी के दृष्टिकोण के पीछे इस प्रकार का मनोबिज्ञान रहा होना—संत होने के कारण उनका कंचन और कामिनी के प्रति मत्कं रहना स्वाभाविक ही था और तत्कामीन संत-ममाज को भी सम्भवतः खेपे करने की प्रावश्यकता रही हो। परन्तु फिर भी इनका प्रचित्त मिद्ध नहीं किया जा सकता। संत का दृष्टिकोण 'सीयराममय' भी तो हो सकता था और स्वयं तुमसी ने अपने महाकाम्य का धारम इसी परप्रत्यक्ष-मय्य नमस्किर्या में किया भी है। परन्तु इसका निर्वाह नहीं हो सका क्योंकि एक तो उनके अपने संस्कार इसमें बाधक हुए हैं, दूसरे भारतीय संत-परम्परा की दृष्टि भी तो नारी के प्रति अत्यन्त संदेहशील और कठोर रही है। बास्तव में तुमसी की कई कट्टकियाँ उनकी अपनी न होकर संस्कृत नीति बचनों का मीमा प्रनुवाह हैं। उदाहरण के लिए उनकी यह चिरनिमित्त धर्मासी होल पवार, मूह पमु, नारी। ये सब ताड़न के प्रतिकारो ॥

नर्क-सहिवा के इस स्तोक का अलरण अनुवाह है—

बुर्कना। शिखिनो बाहा बुध्याव्य परहा। शिष्यः

तादृिता मार्वं पान्ति नीते सत्कारभाजिनः ।

'इसी प्रकार रावण की कट्टक मी अनुवाह ही है—

नारि स्वभाव सत्य कवि कट्टी

अबगुम आठ सवा डर रहूँ ।

साहस धनूत अपलता माया

अय धमिषेक प्रतीच पराया ॥

इसका मूल स्तोक इस प्रकार है—

धनूत साहस माया धूर्तत्वभतिलोभतः

प्रधीचं निधरुचं च इत्रोर्ता रोपः स्वभावजाः ॥

उस समय का वातावरण ही कुछ ऐसा था संस्कृत के मध्यकामीन नीति ग्रंथ स्मृतिवाँ पुण्य संतवाली—यहाँ तक कि संस्कृत और हिन्दी के धोरतम नू नारी कवियों ने भी इस परम्परा का विचार प्रपवा धिचारपूर्वक पालन किया है। मनोबिज्ञान की दृष्टि से बास्तव में इन नारी की भर्तना न मानकर इनके अपने प्रतिपय धनुरक्त मन की ही धारम भर्तना समझना चाहिए।

मनाबिज्ञान या मनोबिज्ञान-शास्त्र इन मनोबुक्ति क कुछ धोर भी कारण उपस्थित कर सकता है। इन कट्टका का एक अत्यन्त स्पष्ट कारण तो तुमसी क जीवन की उस पटना में ही दूँता जा सकता है, जिनमें उन्हें राम-भक्ति की धार प्रेरित किया था। यह पटना तुमसीराज के व्यक्तित्व-निर्माण का मूल आधार है। इसी क दाय उनका उत्कट पारिष प्रम अपने ही उत्कट ध्याविष प्रेव में

उत्तमिष्ठ हो गया था। अपने भाव का उमड़न तो तुमहीं ने साधना से कर लिया परन्तु चूँकि यह परिवर्तन सहज एवं क्रमिक प्रक्रिया के द्वारा न होकर एक भटके के साथ हुआ था इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि यह क्षण उनके मन में यह गई और उनकी आत्म-स्मानि जीवन भर न तो अपने प्राणुर मन को क्या कर सकी और न उस प्राणुर मन की आत्ममन प्रकवा बाह्य प्रतीक नारी को ही। सामान्यतः तो जीवन के उस प्रभुत्व रस को उन्होंने अपने लिए और तुमहीं के लिए भी प्रभुत्व बना लिया परन्तु परिवर्तन की अचानकता (abruptness) के कारण कदाचित् कुछ कल ऐसे यह नये जो बिय बन गये। उनकी उच्छ्रियों के बिस्लेपण से इसमें सम्बन्ध नहीं रह जाता कि वे नारी को कभी धमा नहीं कर सके—परन्तु वहाँ नारी को एक सामाजिक इकाई न मानकर तुमहीं के उठ प्रचौर मन का ही प्रतीक मानना चाहिए जो उनकी ओर स्तानि प्रीति लम्बा क्य कारण बना था।

एक पुसप कारण और भी है। तुमहीं की प्रीति पुस्य-भाव से पुस्य की प्रकृति पुस्य-रूप भगवान की उपासना है। वास्तव भाव भी पुस्य-भाव ही है। मध्य-युग में उपासना के तीन मार्ग थे नारी-भाव से पुस्य-रूप भगवान की उपासना, पुस्य-भाव से नारी प्रकृति उच्छ्रि-रूप भगवान की उपासना और पुस्य भाव से पुस्य-रूप भगवान की उपासना जिसके अन्तर्गत सख्य और वास्तव दोनों भाव था जाते हैं। पहली दो प्रकृतियों में तो नारी-भाव की अनिर्वाच्यता ही है, इन तीसरे उपासना-प्रकृति में नारी नहीं जाती और जाती है तो वाक्ता-रूप में जाती है या अक्षरगत में अनाक्षरक प्रतिबन्ध की भावना उत्पन्न करती है।

ये सब ठीक और यह कार्य-कारण-शृंखला केवल ध्याना भाव है। ये तुमहीं के नारी-विषयक दृष्टिकोण के लिए जना-साधना या धर्मिक से धर्मिक स्पष्टीकरण प्रस्तुत कर सकते हैं। वास्तव में आज की नारी यदि समस्त जगत को "सौन्दर्यमय" समझने वाले समग्रष्ट कवि से अधिक स्वाम की मीथ करे तो आप उसके शीम को सहज ही समझ सकते हैं।



ब्रज-भाषा का गद्य (टीका साहित्य)

इस प्रथम में मुझे यूरोप के किसी नाटककार का एक मजाक याद आता है जिसमें एक पात्र बड़े ही मम्मीर जिज्ञानु भाव से दूसरे से पूछता है—'मसियो बच क्या होता है ? और जब दूसरा पात्र उसे बताता है कि जिन भाषा में वह बोम रहा है वही बच है तो उस बड़ा आश्चर्य होता है ! ब्रज-भाषा के साहित्यकार की समस्या भी बहुत-कुछ ऐसी ही थी । यों तो ब्रज-भाषा गद्य की परम्परा ठेरहूँ-बौरहूँ पताम्बी से लेकर प्राधुनिक काल के आरम्भ तक निरन्तर चलती रही परन्तु उसके काव्य-बेजब में गद्य-साहित्य का इन कुरी तरह प्राप्प्यहित कर लिया था कि प्रायः उसके अस्तित्व का विरवास करना भी कठिन हो जाता है ।

बाखूँ-बौरहूँ पताम्बी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक उपसम्भ ब्रज-भाषा गद्य-साहित्य के स्तुम काल से तीन बर्य बनाए जा सक्त है । पहल बर्य के अन्तर्गत ऐसी रचनाएँ आती हैं जिनका विषय धार्मिक आस्था-बर्षा है । ये रचनाएँ सामान्यतः तीन प्रकार की हैं—(क) हठयोग आदि के ग्रन्थ (ख) वैष्णव धर्म के आस्थीय ग्रन्थ (ग) साधारण बड़ा ज्ञान-सम्बन्धी ग्रन्थ । आरक्ष-नाथ के अनेक ग्रन्थ जैसे गोरखनाथ-अणुप-गाष्ठी महादेव-बोरख-संवाद आदि हठयोग के ग्रन्थ हैं । विठ्ठलनाथ का प्रसिद्ध ग्रन्थ शृंगार रस-मंडन विष्णुपुरी की भक्ति-रत्नावली आदि वैष्णव धर्म के आस्थीय ग्रन्थ हैं और ज्ञान-मञ्जरी आदि का सम्बन्ध बड़ा-ज्ञान से है । ये तीनों प्रकार के गद्य-ग्रन्थ प्रायः एम सरकृत ग्रन्थों के अनुवाद या छायानुवाद हैं जिनमें सिद्धांत-निरूपण किया गया है । स्वभावतः इनमें आस्थीय प्रतिपादन की मूल-वृत्ति दीनी का अक्षमम्भन किया गया है । वाक्य छोटे और प्रचुर हैं । वाक्य रचना में विस्तार और व्यक्त्या का अभाव है । यह दीनी आस्था-बर्षा की दीनी है । पश्चात्तमी की दृष्टि में इनमें सस्कृत के अल्पम अक्षरों का बाहुल्य है—माग्य-वर्षियाँ को भाषा अक्षरानु-मरम है क्वादि उनका अना में सम्पक अक्षिक वा फिर भी सस्कृत के अल्प ग्रन्था की विचारणा के नाथ-नाथ सरकृत की पश्चात्तमी भी बनी आई है ।

दूसरे बर्ष के अन्तर्गत वर्णनात्मक मध-रत्न घाते हैं जिनमें बार्ताएँ, उपा-
स्यान पुराण नीति-कथा अष्टमाम ऐतिहासिक कृत आदि अनेक प्रकार की
रचनाएँ अन्तर्भूत हैं। यह ब्रज-भाषा गद्य का उत्कृष्ट रूप है। वाक्य-रचना
व्यवस्थित और स्वच्छ है। पण्डितान् कर्मभूती शैली से कुछ होने के कारण
भाषा में प्रसार-क्षमता और प्रवाह है। ब्रह्मवली में बोधशास के मरल-मुबोध
तत्सम-तद्भव रूपों का प्रयोग है। संस्कृत के साथ उर्दू-फ़ारसी के प्रचलित
शब्द भी सहज रूप में प्रयुक्त किये गये हैं। वास्तव में इसी गद्य को व्यावहारिक
गद्य के विकास का साधन मानना चाहिए।

तीसरे बर्ष में टीकाओं तथा तिलक आदि का अन्तर्भाव है। रीति-ग्रन्थों
में प्रयुक्त बार्तिक तथा बचनिकाएँ आदि भी इसी क अन्तर्गत मानी जा सकती
हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने अनेक टीकाओं तथा तिलकों का बख्श
किया है। इनमें से कुछेक का सम्बन्ध संस्कृत के भूषार-मुक्तकों से सम्बन्ध है
परन्तु अधिकतर हिन्दी काव्य क अनेक ग्रन्थों को लेकर ही बने हैं। उत्तर-मध्य
युग की पण्डित-बोण्डियों में सबसे अधिक प्रचार बिहारी-सतसई का था अतः
वह स्वाभाविक ही है कि सबसे अधिक टीकाएँ भी इसी ग्रन्थ पर मिली हैं।
बिहारी-काव्य के भाषाई कविवर रत्नाकर के अनुसार सतसई पर अनेकगीत
टीकाएँ ब्रज-भाषा गद्य में मिली हैं। इनमें से अधिकतर हस्तलिखित रूप
में उपलब्ध हैं। बिहारी-सतसई की इन टीकाओं में सबसे प्रमुख हैं कृष्णलाल
की टीका अनेकर-चन्द्रिका टीका पद्मा-निवासी कर्ण कवि की साहित्य-चरित्र
टीका मूर्ति मिश्र की अनेक-चन्द्रिका ईशबीर की रस-चन्द्रिका हरिचरणदास
की हरिप्रकाश-टीका ठाकुर कवि द्वारा लिखित सतसई-वर्णन पर्वत्त देवकी-
मन्दन की टीका और सरदार कवि की टीका। लोचनप्रिया की दृष्टि से बिहारी
के उत्तरतम केन्द्र तथा तुलसीदास का नाम आता है। केन्द्र की कविप्रिया पर
दो प्रसिद्ध ब्रज-भाषा टीकाएँ हैं—(१) हरिचरणदास की टीका (रचनाकाल सन्
१७७८ ई) और (२) मधुमतरंग की मधुमतरंग-चन्द्रिका टीका (समय सन्
१८१६ ई०)। रामचरित्र पर जानकीप्रसाद की टीका है जिसका रचना-काल
सन् १८१३ ई। रचितप्रिया पर सरदार कवि की टीका उपलब्ध है—यह ग्रन्थ
प्रकाशित है—इसका समय सन् १८४६ ईसवी है। रामचरित-माला क टीका-
कारों में प्रथमा के महेश बाबा रामचरण तथा कामी-नरेय ईशवीनारायणप्रिय
प्रमुख हैं। मतिराम आदि कुछ अन्य कवियों को भी यह सौभाग्य प्राप्त हुआ
परन्तु उनके ग्रन्थों की टीकाएँ संख्या में अत्यन्त नगण्य हैं।

इन सभी टीकाओं की स्वतन्त्र समीक्षा करने का तो अवसर नहीं है और

न उनमें इतना स्वतन्त्र बँटव्य ही है। अतएव उनके प्रतिपाद्य विषय भाष्य पद्धति तथा भाषा-शैली आदि का सामान्य विवेचन करना ही यथेष्ट होगा।

प्रतिपाद्य विषय—टीका का मूल प्रतिपाद्य तो अर्थ की व्याख्या ही है, परन्तु अर्थ के सम्यक् निरूपण के लिए ब्रज-बोधव्य प्रसंग आदि का स्पष्टीकरण रस अलंकार, अति शब्द-सक्ति आदिका-मेव आदिकाम्यानों का उद्घाटन भी आवश्यक हो जाता है। रीति-काम में काव्यांगों का सशुद्ध प्रयोग हुआ था—अतएव इस युग की बरिष्ठ रचनाओं की टीकाएँ तो शास्त्रीय विवेचन के बिना पूर्ण ही नहीं हो सकती थी। बिहारी और केसव शानो ही रीति-शास्त्र के मर्मज्ञ थे—अतएव उनकी टीकाओं में अर्थ की व्याख्या की अपेक्षा काव्यांगों का निरूपण अधिक आवश्यक था। बिहारी की टीकाओं में प्रायः तीन रूप मिलते हैं—कृष्णमाल आदि की कुछ टीकाओं में तो केवल ब्रज-बोधव्य का निर्देश करते हुए भाषार्थ को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। उदाहरण के लिए एक श्लोक की व्याख्या लीजिए—

पार्यौ सोर सुहाय को इन बिनु ही पिय नेह ।

उन शौही बँडिया कबै केँ धसरीही देख ॥

‘टीका—सुधा स्वाधीनपठिका सबी को बँन सबी छौं । हे सबी ! इन राधिका बिन ही भरठार छौं नेह सुहाय की सोर पार्यौ है । सो कँभक नायका के धसरीही देख करने तँ नामक होनु ही बँडिया करिके देखि सो चित बड़ी । इस टीका को पढ़ कर बिजानु पाठक के हाथ गया सब सफ़ा है यह कवन की आवश्यकता नहीं। एक तो इसमें मूल श्लोक का पाठ ही भ्रष्ट है—‘उनरीही’ एक शब्द है किन्तु प्रति निधि-वाय के कारण कृष्णमाल ने ‘उन’ और ‘शौही’ को वृथक् शब्द मान उनका इसी रूप में अर्थ किया है। दूसरे अंतिम चरण का क्या तात्पर्य है, यह समझना अत्यन्त कठिन है। कृष्णमाल ने धसरीकार तथा रसोय आदि का निरूपण नहीं किया। धनवर-चरित्र का अर्थ इसके विपरित है—इसमें धसरीकार ब्रज बोधव्य आदि का ही निरूपण है, अर्थ की व्याख्या नहीं है। परन्तु ऐसी टीकाओं की संख्या अधिक नहीं है। अधिकतर टीकाओं में सबसे पूर्व ब्रज-बोधव्य फिर अर्थ की बँडियों का उद्घाटन और अंत में धसरीकार का निर्देश किया गया है। साहित्य-चरित्रा और रस-चरित्र इस श्रेणी की टीकाओं में प्रमुख हैं—इनमें व्याख्या तथा काव्यांग-विवचन दोनों का उचित संयोग है। रस-चरित्रा में इनकी छौं नायिका-मेव तथा हाव भाव आदि का भी यथास्थान निरूपण करते गये हैं। हरिचरनदास कृत हरिप्रसाद-टीका में अक्षर कवि की उद्योग-वर्गादि टीका में तथा अक्षर कवि-निर्घण्ट पंचकप्रिया की टीका में अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत

निरूपण किया गया है। इनकी व्याख्या सूक्ष्म है—अन्व-व्यक्तकार की बाटीभियों को छानने की पेशा इन में स्पष्ट परिमथित होती है। रामचरित-मानस तथा अष्टाध्याय की टीकाया में यक्ति-भास्त्र का आधार बहूत्र किया गया है—काव्याय का निरूपण बहूत्र यौग्य है। यक्ति-निरूपण ही प्रथम है।

व्याख्या-शैली—इन टीकाओं की व्याख्या-शैलियों पर भी संस्कृत की छाप स्पष्ट है। यद्यपि अधिकांश टीकाओं में सामान्य वृत्ति-शैली का ही प्रयोजन किया गया है परन्तु दो-चार में अष्टाध्याय-शैली का भी प्रयोग मिलता है। वृत्ति-शैली में पूरे वाक्य या उपवाक्य का अर्थ किया जाता है, परन्तु अष्टाध्याय में स्वतंत्र पदा का या वाक्यांशों का लेकर अर्थ-रूप में उनकी व्याख्या की जाती है। अष्टाध्याय की प्रणाली में यद्यपि अर्थ तो अधिक स्पष्ट हो जाता है, और कभी-कभी अनावश्यक स्पष्टीकरणों से पाठक का मन भीष्म भी लगता है। जैसे 'उन हीही कहा उजायरी कही कहा करिके'—इत्यादि। अर्थ-अर्थ अर्थ करने से वाक्य टूट जान में बात धुंधली रह जाती है। इसीलिए टीकाकार का बार-बार टूट वाक्य को जोड़ने के लिए प्रसोत्तर के रूप में कुछ-कुछ अपनी धोर से रखने पड़ता है—'सा कैस है ? कैसो है बाको रूप ? प्रिया का बोध कैस ? प्रादि ?' इन्हीं को धुन्धली ने कर्णभूती शैली कहा है। इस अष्टाध्याय-शैली में कभी-कभी पद्या की भीर-अर्थ की मोबत भी पा जाती है। अन्व-व्यक्तकार का चपत्कार विधान के लिए भी टीकाकार प्रायः इस पर हाथ आजमाता है। संस्कृत टीकाओं की एक प्रमुख विशेषता है सार्वभार्य—विषय में गूढ़ तथ्यों का उद्घाटन करने के लिए अनेक स्वयं ही पाठक की धार से प्रश्न उठाकर फिर उत्तर देता है। इस प्रकार संक-समाधान के द्वारा मनक बहिनो मुक्त जाती है। अन्व-व्यक्तकार ने अपनी सठवीं-अर्थात् टीका में सरदार कवि ने अन्व-व्यक्तकार में इस पद्धति का प्रथम प्रयोग किया है। परन्तु यह पद्धति सर्वत्र उत्तम नहीं होती—वास्तविक विज्ञान के अभाव में केवल पाण्डित्य प्रदर्शन के लिए प्रयुक्त किये जान पर इतने अन्व भी हो जाता है, तथा अन्व और भी उत्तम पता है अन्व-व्यक्तकार में प्रायः यही हुआ है।

भाषा—अन्व-भाषा की इन टीकाया का स्वरूप प्राचीन काव्य-शैली के अन्व-व्यक्तकार में सहायक होने के कारण आज इतना नहीं होता जितना कि प्राचीन अन्व—विषयकर दुर्लभ अन्व-भाषा पद्य—के उदाहरण होने के कारण। परन्तु अन्व-भाषा पद्य के चित्रण में इन्होंने कोई बिजय बोधदान नहीं किया—अन्व-व्यक्तकार में अन्व-व्यक्तकार (शैली) के रूप में ही धारित है।

वास्तविक भाषा के बा हुण्ड है। मुक्ति और यक्ति। अन्व-व्यक्तकार की

अपनी प्रकृति और तदनुकूल व्याकरण हाता है—उसका यथोचित निर्वाह ही भाषा की सुधि है। यद्यप्य सुधि के अंतर्गत किसी भाषा की प्रकृति और व्याकरण को दृष्टि में रखकर सज्ञा सर्वनाम क्रियापद तथा कृत्य आदि कल्पों की परीक्षा की जाती है। ब्रज-भाषा की इन विवेक्य टीकाओं की सम्भावनी में सास्त्रोप निरूपण होने के कारण धर्मार्थ ईर्ष्या संघारी स्वाधीनपतिका धन्य-सभाय-बुद्धिता गुरतांत क्रिया सीमाय धामस्ववमित इष्ट उत्संधन कवि-निबद्ध आदि संस्कृत तत्सम शब्दों का सुष्ठु प्रयोग है। परन्तु सामान्यतः ब्रज-भाषा की प्रकृति तद्भव-प्रधान है मूल शब्दों में भी तद्भव शब्दों का प्राधान्य रहने के कारण टीकाओं में भी उनकी बहुमता होना स्वाभाविक है। इनके अतिरिक्त धर्मतत्सम शब्द भी स्वातन्त्र्य पर प्रयुक्त हुए हैं—जो प्रायः भाषा की प्रकृति के अनुकूल नहीं पड़ते जैसे रात्रि का रात्री आसक्तता मूयम आदि। संस्कृत तथा भाषा की सम्भावनी के साथ ही इनमें धरबी-अरबी के प्रचलित शब्दों का भी प्रभाव नहीं है। अनेक टीकाओं की रचना प्रथममान पाहजाबो और नवाबों के आश्रय में या मुगलमान सेनाका हाथ हुई थी इस लिए बहुत से अरबी-अरबी के जुने-मिने शब्दों का प्रयोग अनायास ही हो गया है जैसे—मुसाफ़ात धार या (साध) मबर वास्ते आदि। समथत इन टीकाओं की सम्भावनी के विषय में यही कक्ष या संकल्प है कि बाताँ आदि के वर्धनात्मक गद्य की अपेक्षा इनमें संस्कृत के तत्सम तथा धर्मतत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक है—यद्यपि देता विषय प्रतिपादन के आग्रह में ही कुछा फिर भी ब्रज-भाषा की प्रकृति के प्रतिभूत होने में संस्कृत के अधिकतम शब्द पानी पर लैरते हुए तैम विभुषणों के समान पृथक ही रहते हैं।

सज्ञा सर्वनाम क्रियापद अरक तथा कृत्य आदि कल्पों के विषय में ब्रज की सर्वमान्य काव्य-भाषा में ही जब इतनी सम्भवस्था थी ता उपेक्षिता ब्रज-भाषा की अवस्था तो और भी ह्यनीय हानी चाहिए। संज्ञा-शब्दों में आकारांत के साध-साध आकारांत रूप भी प्रायः मिल जाते हैं—ईसवींशती में प्रायः आकारांत संज्ञा-शब्दों का ही प्रयोग किया है और उच्च सरदार अदि पर भी सड़ी बोली के संज्ञा-शब्दों का प्रभाव स्पष्ट है। सर्वनामों में अनकम्पता और भी अधिक है—‘या’ और ‘वा’ के साथ ‘इस’ और ‘उस’ का प्रयोग ‘यो’ के साथ कहीं-कहीं ‘मुम्’ का प्रयोग भी मिल जाता है। सबसे अधिक सम्भवस्था है क्रियापदों कृन्ता तथा कारक-विभूतों में। सामान्य वर्तमानकालिक क्रियाओं में तिङन्त शब्दों के साथ-साथ ‘ऐं’कारांत रूप—जो वास्तव में तिङन्त के ही पिय हुए रूप हैं—प्रायः मिलते हैं—भूतकाल में ‘यो’ और ‘यी’ की भ्रान्ति तो न्यून

साधारण है, 'घो' और 'वो' का विकल्प भी कम नहीं है। जैसे 'लिबा' और 'सिस्मो' दोनों का ही भूतकामिक प्रयोग हुआ है। सुवर्तमान लेखकों ने और बाद के टीकाकारों ने कहीं बोसी के प्रभावकाय धाकारण्य प्रयोग भी कुछ कम से किये हैं—उदाहरण के लिए ईसवीकाँ और सरदार कवि दोनों में 'हुधा' 'लिबा' प्रादि क्रिया-रूप कहीं भी मिल सकते हैं। इसी प्रकार भविष्यत् काल में 'ये' और 'हु' दोनों विकल्पों का प्रयोग है—जैसे 'भाइये' और 'भाइँ' 'रुहँ' और 'रुह्ये' प्रादि। कारक-विज्ञान में कर्म प्रादि में का कौ कौ कौ से कमी उप मिलत है और अपादान में लें लें से लें लें से लें लें पर प्रादि का विकल्प है। कर्तु-विज्ञान 'ने' के साथ तां प्रायः धरवाचार किया गया है—संस्कृत वाक्य-रचना तथा धरनी के प्रभावकाय धरवा इन दोनों में भी अधिक काव्यगत वाक्य-रचना के प्रभाव के कारण यह म भी 'ने' को छोड़ दिया गया है। यथा—'हे सभी इन यथिका बिना ही जस्ता भी नह सीहान की मार पारपो है। (इच्छान्त कृत बिहारी-सतसई-टीका)। या भारतनु के भी परवर्ती सरदार कवि के ही उदाहरण सीधिए 'इन फूल नवो जस भरि हीगहो उन कही कर गई, तब इन कसिका करी प्रादि। वाक्य-रचना की स्थिति कदाचित् सबसे अधिक विरल है। सामान्यतः टीका में वाक्य-रचना-सीद्ध के लिए कम ही प्रयत्न रखा है, और यदि वाक्यात्म्य-व्यक्ति का उपयोग किया जाय तब तो उसकी कोई सम्भावना ही नहीं रहती। परन्तु इन सीमाधा के भीतर रह कर भी संस्कृत टीकाओं में यह का रूप अधिक विकृत नहीं होने पाया। उसके दो प्रमुख कारण हैं—एक तो संस्कृत भाषा धरनी धरजुत समास-व्यक्ति के कारण मनु वाक्यों में विचारने नहीं पाठी हुएसे संस्कृत की वाक्य-रचना क्रिया पर और विशेषकर पुरक क्रिया पर धरवाकृत बहुत कम निर्भर रहती है। इसके विपरीत हिन्दी वाक्य सामान्य क्रियापर का और उससे भी अधिक पुरक क्रिया 'है' और 'या' प्रादि का मुहताज है। धरवाक्य वाक्यात्म्य की संबंधि हिन्दी की वाक्य-रचना के साथ विस्तृत नहीं बैठती। यही कारण है कि इन टीकाओं के वाक्य प्रायः धरुर्न हैं, और पूर्णता के धरभाव में उनकी धरक-धरवना भी दूधित हो जाती है। प्राया कहीं उधरकी-सी प्रतीत होती है। प्रवाह का वा प्रल ही नहीं है, कम धरवस्था एक का निर्वाह नहीं हो पाया। धूस धरव की मसुस धर-रचना और धरन-कायन वाक्यात् की तुलना में यह लडक और धुधन धर धरंकर लपता है जिसके परिणाम-रूप मूल धरर्न मुवाप होने के स्थान पर और भी धुधोय बन जाता है। उधर विराम-विज्ञान के एकलत प्रभाव में धुधहता और भी बड़ जाती है। विराम-विज्ञान का यह धरभाव विशेष धरधर्य की बात नहीं है, कदाचित्

प्राठ

फ़ायद और हिन्दी साहित्य

फ़ायद पर बार्ता प्रसारित करण का मुझ स फ़ायद सायब इस्तिए है कि मरे सहयोगी और समसामयिक मुझ फ़ायदबासी समझत हैं । उनही यह कारण ब्रमत है ।

फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि धाज के विचार-जगत में फ़ायद न भारी अति की है, और हमारे युग की जीवन-दृष्टि पर जाने-मानेजाने उनका गहरा प्रभाव है । वे उन चार मनीषियों में स हैं जिन्होंने हमारी धाज की पुन-चेतना का नियंत्रण किया है । ये चार मनीषी हैं—डाबिन मार्क्स माथी और फ़ायद । डाबिन का श्रेय है प्राकृतिक जगत मार्क्स का सामाजिक प्रभाव मार्सिक और राजनीतिक जीवन गाधी का धार्मिक जीवन और फ़ायद का श्रेय है मनो-जगत । सामारणत ये चार श्रेय एक दूसरे से सम्बद्ध हैं—फिर भी वैशिष्ट्य क विचार स उपरुक्त विमानन किया गया है—यह न पूर्ण है और न ऐकान्तिक क्योंकि कोई भी जीवन-रक्षण एकान्तिक कैसे हो सकता है ?

फ़ायद उपचार-बूह (वित्तिक) स दर्शन की धार बहे, रोवियों का उपचार करत-करत उनहीन स्वाधियों के मूख उखन तक पहुँच कर अन्तर्मन क विज्ञान की उद्घावना की ।

फ़ायद के मूख सिद्धान्त और निष्कर्ष संक्षेप में इस प्रकार हैं—हमारे मन के बा माय है चेतन और अचेतन (अवचेतन) । इनक बीच में एक तीतप भाव भी है जिसकी स्थिति चेतन स कुछ पहले है—इस फ़ायद ने प्रीकम्प्यस दर्शन पूर्व-चेतन कहा है । यह अचेतन के लिए एक प्रकार का द्वार है । चेतन की अपेक्षा अचेतन कहीं बृहत्तर और प्रबलतर है । फ़ायद ने इसक स्पष्टीकरण के लिए एक देवे परवर का दृष्टान्त दिया है जिसका तीन-बीबाई भाप जन्म में है और एक-बीबाई जल स ऊपर । यह तीन-बीबाई अचेतन है और एक-बीबाई चेतन । चेतन वह भाप है जो सामाजिक जीवन में सक्रिय रहता है जिसकी क्रियाओं का ज्ञान हमें रहता है । अचेतन वह भाप है जिसकी क्रियाओं का ज्ञान हमें नहीं होता परन्तु जो निरन्तर क्रियाशील रह कर हमारी प्रत्येक गति-विधि को प्रभाव

यह स प्रति घोर प्रभावित करता रहता है। यह अचेतन हमारी उन इच्छाओं और चक्षाओं का पुत्र है जो अनेक सामाजिक कारणों से—मुख्यतः सामाजिक स्वीकृति अथवा मान्यता के प्रभाव में अचेतन मन से मुँह छिपा कर नीचे पड़ जाती है और वहाँ स अभिव्यक्ति के लिए संभ्रम करती रहती है। इस प्रवस्था में उन्हें प्रधीक्षक (सिन्सर) का सामना करना पड़ता है जो हमारी सामाजिक मान्यताओं का प्रतीक-रूप है। वह इन असामाजिक इच्छाओं का दमन करने का प्रयत्न करता है। परन्तु यह दमन एक क्षम मात्र होता है इतना इच्छाएँ अनेक छद्म रूप धरकर अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग ढूँढ ही लेती हैं। ये मार्ग हैं स्वप्न-चित्र और कला-साहित्य आदि। एक प्रकार से ये सभी स्वप्न के विभिन्न रूप हैं। इन प्रकार 'स्वप्न की व्याख्या' फ्रायड के नास्तरीय विद्यालय का अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रंथ है।

मन का विभाजन फ्रायड ने एक और प्रकार से किया है यहाँ भी उन्होंने उसका तीन घन माने हैं—इह ऐंगो और सुपर-ऐंगो अर्थात् इह एवं एवं प्रति एवं। परन्तु ये वास्तव में क्रम-अचल अतन और प्रधीक्षक (सिन्सर) से बहुत भिन्न नहीं हैं। इह या इह हमारे चर्मा का पुत्र है जिसमें अचेतन का ही प्राधान्य है। इसकी धारणा बहुत कुछ हमारी वासना से मिलती-जुलती है। एवं अतन मन है जो नीचे इह या इह में स इच्छाओं के पक्के आवेग द्वारा सामाजिक मूल्या के प्रति संभ्रम रहता है। और प्रति-एह संघित सामाजिक मान्यताओं का प्रतीक है जिसका काम धामाजना और प्रधीक्षण करना है। फ्रायड के चर्मा में एह, इह का वह भाग है जिसका निर्वास ऐंग्रिव ज्ञानमय अतन के माध्यम से बाह्य जगत के सम्पर्क द्वारा हुआ है। इह का प्रेरक सिद्धान्त है धानन्दवाद और एवं का प्रेरक सिद्धान्त है वस्तुवाद। एवं में ज्ञान का प्राधान्य है और इह में वासना का—एह विवेक और बुद्धि का प्रतीक है, और इह चर्मा का प्राधान्य है।'

१ It is easy to see that the ego is that part of the id which has been modified by the direct influence of the external world acting through the Pcp—ca. * * * Moreover the ego has the task of bringing the influence of the external world to bear upon the id and its tendencies and endeavours to substitute the reality principle for the pleasure-principle which reigns supreme in the id. In the ego perception plays the part which in the id devolves upon instinct. The ego represents what we call reason and sanity in contrast to the id which contains the Passions.

हमारा अचेतन जिन इच्छाओं का पुत्र है वे मूलतः काम के चारों ओर केन्द्रित हैं। इस प्रकार जीवन की मूल वृत्ति अथवा के अनुसार है काम। उनके अनुसार जीवन में दो वृत्तियाँ प्रधान हैं एक प्रेम करने की प्रवृत्ति इतनी प्रवृत्ति काम दूसरी भाव करने की प्रवृत्ति प्रवृत्ति बँनेटों। इनमें की मुख्य है पहली प्रवृत्ति काम दूसरी उमका विपर्यय मान है। इसी काम का अर्थ है 'सिद्धि' कहा है। हमारी सभी व्यक्तिगत क्रियाओं तथा चेष्टाओं में यही एक कि समष्टिगत क्रियाओं तथा चेष्टाओं में भी काम के मुख्य प्रत्यूष विद्यमान रहते हैं। यह वृत्ति अनेक रूप धारण करती है जिसके अर्थ है कुछ वर्ग निश्चित किने हैं। परन्तु उनके विस्तार के लिए यहाँ प्रवृत्ति नहीं है।

रोम का निदान कर सेने के बाद अर्थ उपचार के लिए प्रयत्न करते हैं। वह वा निश्चित हा गया कि रोम का मूल कारण मन की इच्छा है, पर उनको बोना किस जाय ? इसके लिए अर्थ ने व्यावहारिक प्रयोगों द्वारा "मुक्त सम्बन्ध" प्रवृत्ति "मुक्त-सम्बन्ध-विचार प्रवाह" होती का प्राविष्कार किया जिसके द्वारा वे मन के अन्त बहुरों में पड़े हुए विकारों को बाहर निकाल जाने का दावा करते थे। अचेतन से चेतन में आ जाने पर नाठ चेष्टापूर्वक बोली जा सकती है; विकारों का "उन्मूलन" किया जा सकता है। इस उपचार-प्रक्रिया में वे "कार्य-कारण-बाध" तक पहुँच गये। "कार्य-कारण-बाध" के अनुसार प्रत्येक कार्य का एक निश्चित कारण है जो बाध और अज्ञात दोनों प्रकार का हो सकता है। अज्ञात प्रवृत्ति ईवात् होने वाले कार्य भी सर्वथा उच्छेद्य हैं—उनके कारण हमारे चेतन या अचेतन में मिलते हैं। इस प्रकार अर्थ ने कार्य-कारण-बाध को अपनी विस्थापन का आधार बनाया और अज्ञात-बाध को जीवन का लक्ष्य माना।

इस सिद्धांतों के प्रकाश में धीरे-धीरे अर्थ ने जीवन के प्रमुख तत्वों का व्याख्यात्मक धारण कर दिया। समाज-विधान राजनीति राष्ट्रीयता संस्कृति सम्प्रदाय धर्म कला आदि पर अर्थ की पर्य-भरी दृष्टि पड़ी। उनके निष्कर्ष अनेक मूलिक वे अनेक ही विद्योत्पत्ती परन्तु उनका प्रभाव अत्यन्त अल्पक हुआ और जीवन के पुनर्मुद्धारण में उन्होंने बहुत बड़ा योग दिया। अर्थ के अनुसार जीवन की मूल-वृत्ति है काम प्रवृत्ति राय जिसकी भाष्य है अर्थ वृत्तियाँ। इन अर्थ-वृत्तियों के उचित परिच्छेद में ही जीवन की सिद्धि है। यही अर्थ का अन्तः सिद्धांत—'अर्थ-प्रतिष्ठित'—है। ऐसे ही वे जीवन का मूल सिद्धांत मानते हैं।^१ अनुभव की गयी अर्थ-वृत्ति इसी तरह की ओर

^१ In the Psycho-analytical theory of the mind we take it

क्रायक और हिन्दी साहित्य

उन्मुख है—वस्तु-सिद्धांत द्वारा आरोपित घनेक बाधाएँ इसकी सावक ही हैं—धर्म में उनका तत्त्व भी यही ठहरता है—संयम-नियम विमन्वन धारि की विधियाँ सभी धामन्व की घोर ही उन्मुख हैं। समाज का विधान ऐसा होना चाहिए जिसमें जीवन की मूल प्रवृत्तियों के परिचोप की व्यवस्था हो—धर्म्यवा समाज का विधान स्थिर नहीं रह सकता। वह बिद्रोह धर्माति दुःख-बारिजन कृष्ण धारि का धिकार हो जायेगा। मानव-जीवन की इन्ही सहज धारक्यकताओं की पूर्ति समाज और शासन-व्यवस्था का — जिसके धर्मगत राजनीति धारि मत्ता-परक व्यवस्थाएँ धा जाती हैं — मूल और एकमात्र उद्देश्य है। यह परिताप तथा तात्कालिक ऐतिह्य स्तर पर ही मही होता। बौद्धिक-रागात्मक उन्नयन भी इसकी एक मफल विधि है। वास्तव में राम का प्रामान्य मानते हुए भी धर्म में क्रायक का बुद्धि की मत्ता स्वीकार करनी पड़ी। राम के धर्तधार म बाग पाने के लिए बुद्धि की धरण लेना धर्नबाध हो गया। क्रायक को यह तथ्य स्वीकार करना पड़ा कि रामय जीवन धीर विवेकमय जीवन में सतत संघर्ष रहता है— यह संघर्ष ही मम्यता का मूल धाधार है। धाम के सभ्य जीवन की विठटियाँ धीर कंठार्य राम धीर विवेक के धर्मानंजस्य का ही परिस्याम है। क्रायक ने नैतिक विधि-नियेध के धार्म की निन्दा करते हुए मनोवैज्ञानिक उन्नयन — उन्ही के शब्दों में “धर्ह के सामाजीकरण” — का धार्म उपरिष्ट किया। नैतिक विधि-नियेध जहाँ धर्मियों की बुद्धि धगते हैं तथा उन्हीं धीर धर्भिक धटिम बनाते हैं वहाँ उन्नयन धयषा धर्ह का सामाजीकरण — जो राम का बौद्धिक परिताप है — धर्मियों को सहज ढंग से लोलकर मानसिक स्वास्थ्य प्रबल करता है। यह मल तिक स्वास्थ्य ही ध्यष्टि की सफलता है धीर यही ध्यायक स्तर पर धमष्टि धयषा ममाज की धुक्ति धगी में है। धर्म का क्रायक ने एक प्रकार की इच्छा-पूर्ति या निम्न स्तर पर सामूहिक धम माध माना है। वह मूलतः मविष्य-स्वप्न धुटापिया धारि की भांति एक प्रकार की परितोपधाविनी कल्पना या धर्भिक-उ-धर्भिक उन्नयन का विधान ही है। ईरबर धितु-भाव का धधपण है धीर धार्मिक धर्भार्य धारि स्वप्न-विर्षों क कड़ प्रतीक है। इमी प्रकार कमा धीर साहित्य का भी क्रायक ने एक प्रकार की धर्तपूरक क्रिया धर्ह उन्नयन का माधम माना है धीर उनका उद्गम भी मानव क स्वप्न-विर्षों को ही माना है।

for granted that the course of mental processes is automatically regulated by the pleasure-principle

शक्ति और सीमा

फायर-वर्षम की घपती शक्ति और परिधीयार्थ है। उसकी सबसे बड़ी शक्ति यह है कि घपेठन का अन्वेषण कर उसने मानव-अभिविस्फेपण के लिए प्रचार क्षेत्र का उद्घाटन कर दिया है। शक्ति और समाज की प्रत्येक समस्याओं जिन पर रहस्य का षमा प्रावरण पड़ा हुआ था बुद्धि और विवेक के प्रकाश में आईं और जीवन के पुनर्नूतन के नवीन साधन उपसब्ध हुए। शक्ति और समाज के अनेक जीर्ण रोगों का उपचार भी इसके द्वारा सम्भव हुआ और अन्तर्मनोविज्ञान का धारम्भ हुआ। प्रभ्यात्म बहान समाज-शास्त्र इतिहास साहित्य और कला के मौलिक रहस्यों के उद्घाटन में फायर के सिद्धान्तों और उनकी पद्धति ने अमूल्यपूर्व योग दिया।

इससे, कम की मूलमूल शक्ति मानते हुए उन्होंने मानव के रासायनिक सम्बन्धों का प्रत्यक्ष सूक्ष्म-बहान और किन्हीं धंसों में सर्वथा सटीक व्याख्यान प्रस्तुत किया इसके अनेक भ्रातृत्वों तथा किम्बदन्तियों का विचरन हुआ और जीवन में बौद्धिक मूर्खों की प्रतिष्ठा में सहायता मिली।

फायर-वर्षम की परिधीयार्थ भी प्रत्यक्ष स्पष्ट है उस पर अनेक आरोप लगाए गए हैं। पहला आरोप तो यह है कि वह वैज्ञानिक न होकर धानुमानिक है। उनकी व्याख्या स्थान-स्थान पर बड़ी बुराबुद्ध और अविश्वसनीय हो जाती है। घपती बात को सिद्ध करन के लिए वे जमीन-आसमान के कुसावे मिसा देते हैं। इसरा यह कि फायर के निष्कर्ष स्वस्य स्पष्टियों की वन-स्थिति पर प्राप्त नहीं हैं—विच्छित्तियों के आचार वर प्रतिपादित जीवन-वर्षम स्वस्य मानव का जीवन-वर्षम कैसे हो सकता है? यह फायर के समवायिक और प्रतिद्वन्दी विचारक युग का आरोप है। तीसरा शेष झका यह है कि यह एकांकी है—काम जीवन की मूल प्रवृत्ति तो अवश्य है परन्तु यह धंस ही है सर्वाथ नहीं है। फायर ने उसी को सबसे मालकर अपने जीवन-वर्षम का एकांकी बना दिया है।

फायर के विरुद्ध चौथा आरोप यह है कि उनका जीवन-वर्षम अभावालक है उसमें समामान नहीं है साथ ही यह स्पष्ट एक ही सीमित है, समष्टि के लिए उनके पास कोई अन्वेष नहीं है। इसनिप उनमें आधा और शक्ति नहीं है, एक प्रखर का अवगाथ और अमति है। ये समझता हैं कि यह अन्वितम आरोप अनुचित और अश्यास्त्रुर्ष है। हममें अन्देह नहीं कि फायर में प्रचारक या सुचारक को बड़ी सुसर शक्ति नहीं थी—उनमें वैज्ञानिक की धीरता थी। धारम्भ में उनके प्रयाग और निष्कर्ष अभावामक अवश्य वे और प्रयोगावस्था में ऐसा होना स्वाभाविक भी है, परन्तु धीरे-धीरे उनकी दृष्टि अभावालक हा गई और उन

बन पक्का माह के सामाजिकरण में उन्होंने अपना समाधान प्रस्तुत किया। फायद पेंसेर डाक्टर ने केवल निदान करके ही छोड़ देना डाक्टर का काम नहीं है। उनका दर्शन सहज प्रवृत्ति-मूक दर्शन है जो निवृत्ति-मूक दर्शनों से अधिक ब्यापकता और अधिक होना चाहिए।

फायद हिन्दी में पिछले १०-१२ वर्षों में ही आए हैं। इससे पहले 'शुद्ध' में 'पुरुष' आदि निकले थे पर न उनका लेखक फायद को समझ सका था और न पाठक उस लेखक को। वह एक अनर्गल प्रभाव मात्र था। उसके बाद प्रबोध जैसे एक-मात्र कलाकार द्वारा फायद कुछ व्यवस्थित ढंग से हिन्दी में आये और पीरे-पीरे उनकी धार भाकपण बढ़ा। फायद का प्रभाव और प्रेरणा कई वर्षों में बिके जा सकते हैं। एक तो फायद की प्रेरणा से हिन्दी में शृंगार का पुनरुत्थान हुआ। हिबेरी युग की स्थूल नैतिकता और छायावाद की धर्तीन्द्रिय सौन्दर्योपासना के कारण शृंगार की जा प्रवृत्तियाँ बह गई थीं या क्यास्थिति हो गई थीं वे फायद के प्रभाव से फिर उभर आईं और हिन्दी में शृंगार साहित्य फिर पार पकड़ गया। परन्तु इस शृंगारिकता का रूप प्रचलित वर्षों से बिन्न है। एक तो इसमें शृंगार स्वयं-माध्य नहीं है बल्कि मनाबिस्तेपल का माध्यम है। लेखक का उद्देश्य काम-कथाएँ लिखना धरणा रति-भाव की धर्म व्यक्त करना इत्यादि नहीं हुआ जितना काम-कुछाओं का विस्तेपण करना। इस साहित्य में विकृतियों का चित्रण अधिक है और बाँका देने वाली बातें भी हैं। परन्तु इसके द्वारा समी शृंगारिकता बसते-छिछे प्रेम की कथाओं का या प्रेम की हल्की अभिव्यक्तियों का दुस्साहन न मिला। इसके द्वारा ऐसे रस का परिचायक हुआ जिसमें बहरी शृंगारिकता का मात्र बीजिक धन्वेपल का भी धानन्द मिला हुआ है।

इसी क्षेत्र में फायद का दूसरा प्रभाव यह पड़ा कि काम की छाप बतना और छाप अभिव्यक्तियों की धनमित्य शुभ गई। प्रकृति पर प्रणय-भाव का धारण धरणा परोध के प्रति प्रणय निवेदन धरणा धनीन्द्रिय प्रेम में धारणा कम हो गई और काम का भौतिक स्तर पर स्वीकृति मिली। मन की धरणाएँ कम हुई और बाल्यविषयता का स्वीकार करन का धारण बढ़ा।

धरणातन विज्ञान के प्रभाव से हिन्दी साहित्यकार के चित्रण और भावन में गहराई, सूक्ष्मता तथा प्रचरता आई। मन के मूलम स्तरों तक पहुँचने का भावों की मूदमातिमूदम बीजियों को गहर-बड करने का धारण बढ़ा। छायावाद की मूलम धरणा का समर्थन प्राप्त हुआ। माय ही और भी गहरावों में जाने की प्रेरणा मिली तथा धरणातन को पचावत् चित्रित करन के लिए सफ़्त

असफल प्रयोग हुए। जिस समय प्रपतिवाद के प्रचारक जीवन की सूक्ष्म घाब स्फुटताओं के साथ कसा का सम्बन्ध जोड़ते हुए उसे बहिर्मुख करने के लिए नारे मचा रहे थे फायद के प्रभाव से उसके अन्तर्मुखी रूप को अपेष्ट बल मिला और वह इतिहासों के स्तर पर घाने में बच गई। हिन्दी के लिये फायद का यह बरदान सिद्ध हुआ।

विचार के क्षेत्र में भौतिक-बौद्धिक मूल्या की घबिक विश्वसनीय तथा रोचक ढंग से स्थापना की गई और जीवन तथा साहित्य के पुनर्मुल्यांकन में सहायता मिली। इस प्रकार फायद ने प्रकृति की परम्परा को भी घाने बढ़ाया साहित्यकार के व्यक्तित्व तथा साहित्य की प्रकृतियों के विश्लेषण-व्याख्यान के लिए एक मकीन माग भूम मया जिसमें कर्ता तथा कृति का भूम सम्बन्ध स्पष्ट करने में बड़ी भूमिका हुई और साहित्य के अध्ययन-व्याख्यान के इतिहास में एक मया अध्याय जुड़ा।

अध्य-सिद्ध पर भी फायद का प्रभाव कम नहीं पड़ा। उनमें "मूल-सम्बन्ध" धेमी को तो कथाकारों ने सीधा ही अपना मिया। साथ ही स्वप्न-विधा के धृजन और उद्घाटन का भी हमारे साहित्य में बड़े बेव के साथ प्रचार हुआ।

परन्तु यह तो एक पहलू हुआ। नादान उत्साहियों के हाथों में पड़ कर फायद की दुर्बला और साहित्य की धीधसेबर भी हिन्दी में कम नहीं हुई क्योंकि फायद-वर्षन एक दुबारा सरन है जो दोनों तरफ काट कर सकता है।



नी कामायनी में रूपक-तत्व

कामायनी क रूपक-तत्व की व्याख्या करने से पूर्व दो प्रश्नों का उत्तर देना अनिवार्य हो जाता है —

१ रूपक से क्या अभिप्राय है ? और २ कामायनी रूपक है भी या नहीं ?

रूपक के हमारे साहित्य-शास्त्र में दो अर्थ हैं। एक तो साधारणतः समस्त द्रव्य काव्य को रूपक कहते हैं दूसरे रूपक एक साम्य-भूतक धर्मकार का नाम है जिसमें अप्रस्तुत का प्रस्तुत पर अभेद-धारण रहता है। इन दोनों में मिश्र रूपक का तीसरा अर्थ भी है जो अपेक्षाकृत धकुनातन अर्थ है और इस नवीन अर्थ में रूपक अंग्रेजी क 'एलिमरी' का अर्थ है। 'एलिमरी' एक प्रकार के कच्चा-रूपक को कहते हैं। इस प्रकार की रचना में प्रायः एक द्वि-धर्मक कथा होती है जिसका एक अर्थ प्रत्यक्ष और दूसरा सूक्ष्म होता है। हमारे यहाँ इस प्रकार की रचना को प्रायः अख्याति कहा जाता था। कामायनी के पद्यावली के लिए प्राचार्य मुचल ने इसी शब्द का प्रयोग किया है। रूपक क इस नवीन अर्थ में वास्तव में संस्कृत के रूपक और अख्याति दोनों धर्मकारों का योग है। इसमें जहाँ एक ओर साधारण अर्थ क अतिरिक्त एक अर्थ—सूक्ष्म—रहता है वहाँ अप्रस्तुत अर्थ का प्रस्तुत अर्थ पर अल्प साम्य आदि के साधारण पर अभेद-धारण भी रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि रूपक धर्मकार में जहाँ प्रायः एक वस्तु का दूसरी वस्तु पर अभेद धारण होता है वहाँ कच्चा-रूपक में एक कथा का दूसरी पर अभेद धारण होता है। वहाँ भी एक कथा प्रस्तुत और दूसरी अप्रस्तुत रहती है। प्रस्तुत कथा स्पष्ट भौतिक घटनामयी होती है और अप्रस्तुत कथा सूक्ष्म-सैद्धान्तिक होती है। यह सैद्धान्तिक कथा दार्शनिक नैतिक राज-नीतिक सामाजिक वैज्ञानिक मनो-ज्ञानिक आदि किसी प्रकार की हो सकती है। परन्तु इसका अस्तित्व मूर्त नहीं होता। यह प्रायः प्रस्तुत कथा का अर्थ अर्थ ही होता है जो उभय अन्विष्ट होता है—द्वि-धर्मक साम्य की प्रासंगिक कथा की भाँति जुड़ा हुआ नहीं होता।

उस प्रकार इन बिलिखित अर्थ में रूपक में तात्पर्य एक लेखी द्वि-धर्मक कथा में है जिसमें किसी सैद्धान्तिक अप्रस्तुत अर्थ अथवा अर्थार्थ का प्रस्तुत अर्थ पर अभेद धारण रहता है।

प्रत्यक्ष 'क्या कामायनी रूपक है?'—इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें यह देखना है कि क्या कामायनी की कथा में प्रस्तुतार्थ के प्रतिरिक्त किसी वैज्ञानिक अथवा प्रस्तुतार्थ की अन्तर्भाव भी वर्तमान है। इस प्रश्न के उत्तर का संकेत प्रसादजी ने स्वयं कामायनी के प्रामुख में दिया है।

“धर्म साहित्य में मानवों के धार्मिक पुण्य मनु का इतिहास बेहो भे लेकर पुराण और इतिहासों में विचार हुआ मिलता है। इसीलिए वैदिक मनु को ऐतिहासिक पुण्य ही मानना उचित है।

× × ×

यदि यज्ञ और मनु धर्मत्व मनन के सहयोग में मानवता का विकास रूपक है तो भी बड़ा भावमय और स्थाय्य है। वह मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास बनने में समर्थ हो सकता है।

× × ×

यह भावना इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अस्मृत विषय हो गया है। इसीलिए मनु, यज्ञ और यज्ञ इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक धर्म की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। मनु धर्मत्व मन के बोलों पर हृदय और अस्तिष्ठक का सम्बन्ध समझ यज्ञ और यज्ञ में भी सरलता से लय जाता है। इन सभी के आधार पर कामायनी की सृष्टि हुई है।”

इसका अभिप्राय यह है कि कामायनी का कवि ने मूलतः एक ऐतिहासिक काव्य के रूप में ही लिखा है परन्तु इसकी कथा में रूपक की सम्भावनाएँ निहित हैं और यदि इसे रूपक भी मान लिया जाय तो कवि को यह धरती सार्य नहीं होया। धर्मत्व मूल रूप से नहीं तो बौद्ध रूप से कामायनी में रूपक-रस निश्चित ही वर्तमान है। इसके प्रतिरिक्त कामायनी के पात्रों का प्रतीक-मय सांकेतिक अस्तित्व तथा उनकी मुख्य अट्टमार्थों का स्तोत्र-वर्णित हृदयार्थ होना ही इस मय की पुष्टि करते हैं। प्रत्यक्ष कामायनी में रूपक-रस की स्थिति के विषय में संदेह नहीं किया जा सकता। वह निरूपण ही है, और काव्यी सत्य है।

कामायनी की व्यक्त कथा में धार्मिक पुण्य मनु और उसकी सहचरी धार्मिक गारी यज्ञ के संयोग में मानव-सृष्टि के विकास का चरित्र है। अहंकार की अनेकमयी स्थिति से अस्मरता की अनेकमयी स्थिति तक—मनोमय क्रम से आनन्दमय क्रम तक—उसका अस्तित्व पथ है। कथा का अस्तित्व पथ ऐतिहासिक-वैज्ञानिक है और अस्तित्व पथ मनोवैज्ञानिक-धार्मिक है—और इस प्रकार दोनों पथों में निकट सम्बन्ध है जो इस कथा की एक विशेषता है। अथवा रूपको में साधारणतः इन तरह का निकट सम्बन्ध रहना नहीं है।

पहले पात्रों को सीजिए कामायनी के प्रमुख पात्र हैं मनु, यज्ञ और

इड़ा। इनके अतिरिक्त मन्व पात्र हैं—मनु-मर्या का पुत्र कुमार तथा असुर पुरोहित आकृषि और क्षिणात। क्रम और सज्जा अक्षरीरी पात्र हैं। वे मूलतः ही सांकेतिक हैं। मनु, वैसा कि स्वयं प्रसाद जी ने लिखा है मन का—मनोमय कोष में स्थित जीव का—प्रतीक है। एक स्थान पर व्याकरण में मनु और मन को एक-रूप माना गया है। 'मन्वते धमेन इति मनु'—जिसके द्वारा मतन किया जाये वह मन है वही मनु है। मन में अभिप्राय वही चेतना से (Consciousness) है। उसका मूल सद्गण है अहंकार—'मैं हूँ' की भावना—जो अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्पों में अपनी अभिव्यक्ति करती रहती है। कामायनी के मनु के व्यक्तित्व का स्थायी आधार निस्सन्देह वही अहंकार है

मैं हूँ यह बरवान सद्गुण क्यों
लया पूर्वजने जानों में।

मैं भी कहूँ लया, मैं रहूँ
छाहकत नम के पागों में।

(याधा)

किन्तु सकल कृतियों की
सीमा है हम ही धरती तो।

पूरी ही कामना हमारी
बिफल प्रयास नहीं तो।

(कर्म)

यह जीवन का बरदान मुझे
दे दो रात्री धरमा दुसार।

केवल मेरी ही चिंता का
तब चिंत बहून कर सबे भार।

यह जसन नहीं यह सकटा मैं
बाहिए मुझे धेरा ममत्व।

इत पंचमूत की रचना में
मैं रमल कहे बन एक तरब।

मनवमीमता अर्थात् निर्दोष संकल्प-विकल्प अहंकार के संघारी है। उपनिषदों में संकल्प-विकल्प को मन की प्रजा कहा गया है। प्रथम दर्शन के समय हमारा मनु के इसी मनवनीय संकल्प-विकल्पमय रूप में साक्षात्कार होता है। मनु के व्यक्तित्व में आदि ने अंत तक मूल-अविप्लव, प्रहर्षित-अमरत्व आदि के चिंतन और तत्काल्य संकल्प-विकल्प का प्राधान्य है।

कामायनी की दूसरी प्रमुख पात्र है भद्रा । भद्रा प्रसादजी के अपने स्वप्नों में हृदय की प्रतीक है । 'भद्रा हृदय वास्तुया भद्रया विभ्रते ननु ।' (आश्वेठ) । कामायनी में स्थान-स्थान पर उनके हृदय रूप की स्पष्ट प्रतिकृति मिलती है

हृदय की धनुकृति बाहु उदार

एक मन्वी कापा उन्मुक्त ।

बहु मन्मथों के रेश में हृदय-सत्ता का मुन्दर सत्य खोजने के लिए भ्रमती है । उसके व्यक्तित्व के मूल तत्व हैं एक और सहायुक्ति क्या मयता मधुरिया स्थान तथा कामा और दूसरी ओर मयाच विद्वानस उस्ताह प्रेयसा स्फूर्ति भादि जो हृदय के कोमल और सखल पलों की विभूतियाँ हैं । मुक्त जी ने इसीलिए भद्रा को विस्वामयमी शक्तिमिका बूझि कहा है । भद्रा की काम और रति की पुत्री माना गया है और वह इस संसृति में प्रेम-कला का सदैव गुनाने के लिए अकतरिष्ठ हुई है

यह मोसा विद्वन्वी विद्वत बली

यह नुल धरिणि की प्रेम कला ।

उसका संवेत गुनाने को

संसृति में धाई वह धमला ।

तीसरी मुख्य पात्र है इडा या स्वपृष्ठा-कृति की प्रतीक है । प्रचार जी ने व्यक्त रूप से उसके व्यक्तित्व का प्रतीकारमक विच अकित किया है

विचारी धनकों क्कों तर्क ज्ञान

भरी छात ।

उपसृष्ठ विच में कृति के तर्क भौतिक ज्ञान-विज्ञान विद्युत्त भादि सभी तर्कों का अवयव-रूप में समावेश कर दिया गया है । नीचे भी उसका चरित्र एकल भौतिक है । वह हृदय की विभूतियों में संवित व्यक्तिसामयिक कृति हाथ अनुमासित है । जीवन की अर्थरता के स्थान पर वह बर्क-विभाजन और अर्थर के स्थान पर मेद की व्यवस्था करती है ।

बह भीष्म पात्र सेप रू आते हैं अपने पहले यज्ञ-मनु की पुत्र कवार आता है । उसका कोई विशेष व्यक्तित्व नहीं है — वहाँ तक कि उल्लस नामकरण संस्कार भी नहीं किया गया । वह नव पात्रक का प्रतीक है जो अपने पिता से मयनमीमता माता से यज्ञ अर्चन्तु हादिक पुत्र और इडा से कृति प्रकृत का पुत्र मालवत्य का प्राण करता है । अनुर-नुराहिन भाकृति और किनाल मानुरी वृत्तियों के प्रतीक है । ज्यों ही मनु (मन) पाप (हिमा-यन) की ओर माकृष्ट हाता है भाकृति-किनाल (मानुरी वृत्तियाँ) उनकी दुप्परता देने के

मिग तुरंत हा उपस्थित हा जाते हैं और उमे दुष्कर्म में प्रवृत्त करत हैं। फिर जब मनु के विषय विवाह होता है ता ये ही विद्वेहियों के नता बन कर सामन आते हैं। इनका अभिप्राय यह है कि आमुगी वृत्तियाँ पहले तो मन का पाप क्रम में प्रवृत्त करती हैं फिर जब उम इसके लिए कष्ट मानना पड़ता है तो ये आमुगी वृत्तियाँ उमड़े उसक कष्ट में योग देती हैं।

इनक अतिरिक्त वेग धडा का पशु और वृषभ तथा सामन्ता के भी निरूपण ही साकृतिक अर्थ हैं। एवं इन्द्रियों क प्रतीक हैं। इन्हीं की निर्वाच आत्म-वृष्टि का अर्थ है इन्द्रियों की निर्वाच वृष्टि

परी उपेक्षा भरी प्रमरते !

री प्रवृत्ति ! निर्वाच विनाश !

धडा का पशु भी जिमका नाम गया जानि घाबि का अर्थन तक नहीं दिया हुआ स्पष्ट एक प्रतीक है। यह सङ्ख जीव दया करुणा - भावुनिक अर्थ म अहिंसा—का साकृतिक है

एक मत्स्या था र्हा वा पशु प्रतिधि के साथ

हो र्हा वा मोहू करता स सजीव सनाथ ।

वृषभ ता भारतीय अनुभूति में अनादि काय मे धम का प्रतिनिधि माना जाता र्हा है

वा सोमन्ता स प्रावृत्त

वृष वचस धर्म का प्रतिनिधि ।

सोमन्ता का साकृतिक अर्थ है भोग । इस प्रकार सामन्ता म आवृत्त वृषभ का अर्थ हुआ भोग-समुत्त धर्म जिसका उन्मर्ग करक मानव विनाशम्-मार्ग हो जाता है ।

अथ तीन-भार प्रतीक और रह जात हैं। जल-प्ल बन विनाश और मान मत्तार । जल-प्लावन भारत क ही नहीं पृथ्वी क इतिहास की अत्यन्त प्राचीन घटना है। इनारे बसन्त-साहित्य में इणका प्रतीक-रूप में प्रहलु कर उसका साकृतिक अर्थ भी किया गया है। जब मन अराध इन्द्रिय-निष्ठा का बाध हो जाता है अर्थात् जब मन अरर विज्ञानमय काय और आनन्दमय कोष की भार बढ़ने के स्थान पर निम्नतम अल्पमय काय में ही रम जाता है ता अतना पूर्णतः उस माया में डूब जाती है ।

बिनाश में प्राचीन विपुलसाह के रूपक म प्रस्ता प्रहृष्ट की गई है और इनका प्रतीकार्य अत्यन्त व्यक्त है। तीन मोक—नाथ पाक वच वोक तथा ज्ञान-मोक अतना की तीन अपमृत प्रवृत्तियों—भाव वृत्ति कर्म-वृत्ति और ज्ञान-वृत्ति क

विचार और विरहोपपन्न

३०

प्रतीक है। जब तक ये तीनों कृतिनाँ पृथक्-पृथक् कार्य करती हैं मन अज्ञान और उद्विग्न रहता है

जान हूर कुछ किया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की
एक दूसरे से न मिल सके
यह विदम्बना है जीवन की।

परन्तु जब भ्रष्टा के द्वारा इनका समन्वय हो जाता है तो मन समरसता की अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

स्वप्न स्वप्न जागरण भ्रम ही
इच्छा किया ज्ञान मिल लय से
विषय समाहृत पर निवार से
भ्रष्टापुत्र मनु बस सम्भव से।

मानसराज पर जिस छतपत्र बाह्यरूप म मनोरथसर्वसु कहा क्या है—
‘तदप्येतदुत्तरस्य विरेचनोरथसर्वसुमिति’

—कैलाश सिंघार पर बहु स्वप्न है जहाँ मनु भ्रष्टा की सहायता से पहुँचते हैं और अपने मानसिक क्लेश से मुक्ति पते हैं। यह समरसता की अवस्था है मानसिक समन्वय की अवस्था जहाँ मात्र कम और ज्ञान में पूर्ण सामन्वय हो जाता है।

मानसराज पर या मानस (कामावनी में मानस राज्य का प्रयास है) इसी समरसता की अवस्था का प्रतीक है। वह मानस कैलाश सिंघार पर स्थित है—कैलाश पर्वत ज्ञानरमय कोम का प्रतीक है।

कामावनी की प्रस्तुत कथा में मनु की कैलाश-स्थित मानसराज पर यात्रा का वर्णन है जहाँ पहुँच कर मनु के समस्त क्लेश दूर हो जाते हैं। रूपक को हटाकर यह मन का समरसता की अवस्था का प्राप्त करने का प्रयत्न है जिसके उपरान्त मन के समस्त भौतिक और आध्यात्मिक क्लेश नष्ट हो जाते हैं और वह पूर्णनिन्द-सीम हो जाता है। पारिभाषिक पर्यायवाची में यह मनोमय कोष में स्थित जीव की सामन्वय कास में स्थित होने के लिए साधना है। यह मानसमय कोम पिडाह-रूप पर्वत का उच्चतम भिन्न कैलाश है। कामावनी की रचना के समय वह वैदिक रूपक स्पष्टता प्रसार जो के मन में विद्यमान था।

अपने प्रकृत रूप में मनु एकलाल मनमगीम तथा अर्द्धवारी है। वह अहंकारमय निर्द्वन्द्व चिन्तन-मनन के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर पाता। ज्यों-ज्यों काम की प्रेरणा से काम और रति की पुत्री भ्रष्टा ने मनु का संघास किया है

उनमें जीवन क प्रति आर्षरण तथा स्मृति का उदय हाता है। भडा क साहस्य म मनु के अहंकार का सम्मार्जन हाता ते—बह स्व म पर' को मोर बढ़ता है। बीच-बीच म उनका अहंकार उभरता है और आसुरी वृत्तियों क प्रतीक आनुति-क्रिया क सहायता म ब पशु-मज कर सामरस की प्राप्ति करत है। परन्तु भडा उसका तीव्र विरोध करती है, और कम-से कम कुछ समय क लिए उम्ह उसका बनीबित्त्य स्वीकार करन क लिए बाध्य करती है। इन प्रकार जब तक मनु भडा के प्रभाव में रहते हैं उनक अहंकार क उत्कार होता रहता है। परन्तु यह स्थिति अधिक समय तक नहीं रहती मनु का अहंकार फिर प्रबल हा जाता है

यह जस्तन नहीं तह सकता म
बाहिये मुझे मरा ममत्व।
इत पंचभूत की रचना में
में समस्त कहे कम एक तत्व ॥

धीर म भडा म विरत होकर फिर ध्यान म आ जात है। भडा क विमुख होने पर मनु की वृत्तियों पुन अस्त-व्यस्त हा जाती है धीर के जीवन-मज पर मटकठ हुए धारस्वत प्रदेय पहुँचते हैं। धारस्वत प्रदेय जीव क निम्नतर काय—प्राणमय काय का प्रतीक है। यहाँ उनका मायाकार इहा म हाता है जे उम्ह बुद्धिबाह की बीधा देकर भौतिक जीवन की धार प्ररित करती है जो बुद्धि कहे उसको न मान कर फिर मर बिचकी धारण बाय।

बह प्रकृति परम समलोक धनिल एश्वर्य भरी धोषक विहीन।
तुम उसका पदम धोलने में शरिकर कस कर बन कर्मतीन।

उसका नियमन साक्षय करते बत बड़ा बली धरनी क्षयता।
इहा क प्रभाव म मनु बुद्धि-बल म प्राकृतिक साधनों को एका कर वासन-

प्यवस्था करत है—कर्म-विभाजन हाता है जीवन में भौतिक मर्यादा का सूत्रपाठ होता है। मनु इन सबके निवामक है परन्तु मनु का अहंकार इतने ल संशुद्ध नहीं हाता—इहा पर भी तो उनका अधिकार हाता बाहिये ! के उनक लिए प्रबलधीन हात है—परन्तु यहाँ उन्हें धार बिचलता होती है। इत धनबिकार बरा से के रज क कोप-भाजन बनते हैं। एक बार फिर प्रमय का-का हत्य उपस्थित हो जाता है मनु का बिजोही प्रजा के माप गुण हाता है जिनमें मनु की पराजय होती है।
इतका सकल-मर्ष यह हुषा कि मन धाने प्रकृत कन में कबल मननधीन

तथा सहकारी है। भद्रावान् हुकर ही घोर भद्रा का उदय मन में पाम-वृत्ति के प्राणाय के कारण ही सम्भव है उसका उचित विगा में विक्रम-संस्कार होता है। भद्रा विश्वासमयी पयात्मिका वृत्ति का नाम है। 'भद्रा-समवश मन में अपने प्रति विश्वास और जीवन के प्रति राग का उदय होता है। या समय-समय पर उसके धामुरी संस्कार निरपय ही उमरये—उत्कम सहज मायबाह ऊपर धारणा परन्तु जब तक वह भद्रावान् है तब तक इन पर नियन्त्रण रहना और उसके सह का संस्कार हुआ रहेगा। परन्तु वही ही मन भद्रा को त्याग देना वह नीच प्राणमय काम में पहुँच जायेगा और बुद्धि के भ्रम में पड़ जायेगा। बुद्धि अचसाधारिक वृत्ति है—वह उसका संबंध की निरंतर प्ररणा तो दे सकती है परन्तु मुख नहीं दे सकती। सहकार का संस्कार करने के स्थान पर वह उसे घोर भी उत्तेजित करती है—अंत में एक स्थिति ऐसी पा जाती है कि मन बुद्धि पर पूर्ण एकाधिकार करन के लिए लातावित हा उठता है। यहाँ उसका पूर्ण पराभव होता है और एक प्रकार की मानसिक प्रमय हो जाती है।

इस पराभव के उपरांत मनु को बड़ी म्मानि हाती है। इतने में ही भद्रा के साथ उनका फिर संयोग होता है। भद्रा उन्हे म्मानि और श्लेष का परिखाव कर फिर से कमसीम हान के लिए उत्साहित करती है। इसी बीच में उसका साक्षात्कार इडा से होता है। वह पहले तो अति-बुद्धिवादी हल के लिए इडा की भर्त्सना करती है—अंत में उसे क्षमा कर अपने पुत्र कुमार का उस सति रती है और आप मनु को साथ लेकर चल देती है। मनु और भद्रा दोनों हिमात्म के शिखरों पर चढ़ते चढ़ते एक ऐसे स्थान पर पहुँचते हैं जहाँ से विशिष्ट दिव्य के तीन रूपक ज्योतिष्पिंड उन्हें दिखाई पड़ते हैं। भद्रा मनु को इनका रहस्य समझती है—'ये तीन ज्योतिष्पिंड भाव-शोक कर्म-शोक और ज्ञान-माक है। इनके शर्वक्य के कारण संसार में विदम्बना फैली हुई है। ऐसा कहते-कहते भद्रा की मुस्मान म्माधि-रेखा बनकर इन तीनों लोकों में दौड़ जाती है—तीनों माक मिलकर एक हो जाते हैं, और वल फिर मनु के मन के श्लेष घोर विरव की घापी विदम्बनाओं का अंत हो जाता है। भद्रा-संपुन मनु पूर्ण धानंद-मीन हा जाते हैं।

इसका प्रतीकार्थ इस प्रकार है—मुखबार घोर बुद्धिवाह के अतिचार के फलस्वरूप मन का पुष्यत परानून हाना स्वाभाविक ही था। इससे मन को भयकर म्मानि घोर निर्बेह हाता है और वह फिर जीवन में पमात्मन करता है। इस स्थिति में भद्रा ही उसका निस्तार करती है। भद्रा-संपुन मन फिर जीवन

विद्या की धार विक्रमधीन होता है और एक एसा स्थिति में पहुँच जाता है जहाँ उस धार-माधात्कार हो जाता है। भद्रा की प्रारणा से उस धारन परामर्श का रहस्य स्पष्ट हो जाता है। वह अनुभव करता है कि उसकी विद्यम्बनाओं का सम्पादन रहस्य यह है कि उसकी नीचा मूल बुलिया में सामजस्य नहीं है। उसकी भाव-बुलि ब्रान-बुलि और कम-बुलि (to feel, to know to will) तानों ही एक-दूसरे से पुनः रह कर छिपायी है। जो ही धरा के द्वारा इन नीचों का पूर्ण सामजस्य हो जाता है मन ममरमना की अवस्था प्राप्त इन पूर्णतन्त्र में लीन हो जाता है। वह धारन्य भव वाणी का धारमामन्त्र है जो धारन भीतर ज्ञान-माधात्कार द्वारा प्राप्त होता है मयुग मल्ल का धारन्य नहीं है जो जगत्तर में व्याप्त प्रभु के दर्शन कर प्राप्त होता है। भद्रा द्वारा धारन पुनः कुमार का इरा को धीपता भी इसी सामजस्य का प्रतीक है। मनु और धरा का धारन्य होने के कारण मानव जगत् मन्तनीयता और भद्रा से मुक्त है। इरा का निरीक्षण उनक बुद्धि-तन्त्र को भी परिपक्व कर मानवत्व को पूर्ण कर देता है।

माधाराण्य कथा का अन्त यही हुआ चाहिए था। परन्तु इस प्रकार इरा कुमार और मारस्वत प्रदेश-वासियों की कहानी समुपे ही रह जाती। धरत्येक उगक पवकमान-रूप में इरा कुमार और मारस्वत-प्रदेश-वासियों के भी मान मरानर जान का बर्णन किया गया है जहाँ से मोम-मता से मद्रित रूपम का उल्लेख कर मनु से सामरस्य को दीखा लैते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि मूल कथा से इस प्रसंग का महत्त्व सम्बन्ध नहीं है परन्तु संकेत यह हमका भी सर्वथा स्पष्ट है और यह यह है कि समष्टि-रूप में भी मानव-जीवन की परिणति धारन्य में हो है। मान-मता दर्शाते मीय और रूपन धर्मान् धर्म (धर्म) का उल्लेख कर मरररर मानव विद्यमान-मल्ल हो जाता है।

इस प्रकार कामायनी निस्सन्देह ही सत्य है। प्रभाव जी ने कथा के मूल तर्कों को ऐतिहासिक मानते हुए उनक धारार पर ऐतिहासिक महाकाव्य की रचना का उपक्रम किया था। किन्तु कथा का सांकेतिक रूप उनके मन में धारन्य से अन्त तक बर्तमान था और मन के विक्रम का प्राचीन वैदिक रूप उनको भी धारन्य प्रिय था।

परन्तु प्रभाव जी ने इस मन्थना प्राचीन रूप में ही बहल नहीं किया। प्राकृतिक वैदिक-काल का प्रभाव भी उस पर धारन्य व्यक्त है। मनु के जीवन की विद्यम्बना धारुनिक जीवन की विद्यम्बना है। इस विद्यम्बना का मूल कारण यह है कि धारन्य हुआ ही भाव बुलि धर्मान् मन्वृति त्रियमें धर्म वैदिकता और

भी संपत्ति नहीं बँटती क्योंकि इस तरह पिता-पुत्र में सममय एक ही प्रतीकार्ण की पुनरावृत्ति हो जाती है। प्रसार जी ने इस घसपति का अनुभव किया था इसलिए धान-सोक की भाषा पर जान न पूर्व थडा कुमार को छाड़ जाती है। इसी प्रकार सारस्वत प्रहस-बाधियों के साथ इडा घौर कुमार का चिरानन्द सीन मनु के पास बुधम प्राधि का उत्सर्ग करन के लिए जाना भी प्रस्तुतार्ण मे एक वैभव जैसा ही है। इसकी सपनाई म को कारण दिये जा सकते हैं। एक कारण तो यह है कि प्रस्तुत कथा को पूरी तरह अपस्तुतार्ण मे अकड़ देना ठीक नहीं है—प्राधिर प्रस्तुत कथा को बोझ-सा तो स्वतन्त्र व्यवकाय देना ही चाहिए। दूसरा यह है कि कामायनी की कथा का विकास ही घसपतियाँ से भरा हुआ है; उसमें ही काफ़ी जोड़ मने हुए हैं। पतएव उपसुंन घसपतियों का मन्व्य बहुव-मुख कथा की घसपतियों से भी है। इनके घतिरिक्त प्राचार्य मुक्त न का वारिबक घसपतियों की घोर संकट किया है। एक ता यह कि जब इडा की प्रेरणा से ही मनु कर्म-विस्तार करते हैं परन्तु जब बुद्धि ही कर्म-व्यापार का कारण है ता ज्ञान-सोक से पुनक कर्म-सोक का घस्तिव किस प्रकार संगत हो सकता है? दूसरे उँठि घौर काम की बुद्धिवा तथा मानव-कस्या सहानुभूति प्राधि की मयामार्थी होन के कारण थडा की स्थिति मुँड नाव की स्थिति है—उमका घस्तिव एकाव्य भावामक है। ऐसी परिस्थिति म उसकी स्थिति भाव-सोक न ही नहीं बरन् भाव कम ज्ञान तीनों से ही पर कर्म हा सकती है? इसमें म पहली प्रापति तो घधिक संघट नहीं है। सैन ता मानव-मन इतना बटिस है कि इसकी मनी बुधियाँ परस्पर अनुसूत घौर घुम्किन हैं, किन्तु भी रघर्न तथा मय-विज्ञान में इच्छा ज्ञान घौर किया का मेर तो सर्वथा स्वीकृत है ही। भारतीय रघर्न में घच्छि ज्ञान घौर कर्म मार्ग का पुबन्ध विवेचन प्राय आरम्भ ए ही होता जाया है। इसलिए कर्म के पीछे बुद्धि की प्ररणा होने का यह अधिप्राय नहीं है कि इन दोनों में कोई तत्त्वयत पार्थक्य ही नहीं है।

अज्ञान-विषयक प्रापति अधिक गम्भीर है। साधारण दृष्टि से निस्संदह ही थडा एक भाव है घौर भाव ज्ञान घौर किया के रूपक बर्नन के समय भाव से भिन्न उसका बस्तिवक वास्तव में समन्व में नहीं पाता। परन्तु प्रसार जी न कामायनी की सम्पूर्ण कथा को बुँडे थडा को ही बनाया है। थडा का अर्थ है प्रास्विक बुद्धि (भावना) 'प्रास्विक-बुद्धि इति थडा। प्रास्विकता का अर्थ है घस्तिव में मूँडन वास्तवा' इन प्रकार भास्विक-भावना जीवन की एकव्यत मूल-यन भावना है। इसी के द्वारा जीवन का संभालन हाता है। प्रसार जी न इन इसी का में पहुँच किया है। इसमें मन्वह नहीं कि प्रसार की अज्ञा में यन-वत्त्व

की घट्यन्त प्रधानता है परन्तु यह स्वाभाविक है। अस्तित्व में सहज घासा स्वभाव ही राम प्रधान होनी चाहिए जीवन क प्रति सहज घासा निस्सन्देह ही रामयी हानी चाहिए। परन्तु फिर भी तत्व-रूप में भडा कोरी भावुकता नहीं है आस्तिक बुद्धि की पर्याय होने क कारख उसमें अस्तित्व की तीनों अभिव्यक्तियों इच्छा ज्ञान क्रिया की स्थिति है। प्रसाद जी ने भी भडा क कोरी भावुकता के प्रतीक-रूप म विहित नहीं किया—बहु भास्व में जीवन की प्रेरणा की प्रतीक है। इसके विपरीत भाव-साक काऱि भावुकता—इच्छा की रवीन कीडाधो—का प्रतीक है और स्पष्ट राखों में—भाव-साक कबल इच्छा वा प्रतीक है और भडा जीवन क अस्तित्व में घासा अर्थात् विस्वाद्युक्त बीर-नश्या है।

जिसे तुम समझे हो अभिघाप
 जगत् की ब्यालाधों का मूल
 ईश का बहु रस्य बरवान,
 कभी मत् जायो इशको मूल।
 × × ×
 तप नहीं केवल जीवन छप
 ककत यह क्षणिक रीज प्रवसाव
 तरल घाकीला से है बरा
 तो रहा घाघा का घाह्वर।
 × × ×
 एक तुम यह विस्तृत भू-खंड
 प्रकृति बेधव है मरा धर्म
 कर्म का मोय, मोय का कर्म
 यही बड़ का खेतन घामर।

पूब तथा पश्चिम क धर्म-घासा तथा बर्धना में भी भडा की बही स्थिति स्वीकार की गई है। धर्म धर्म काम मोघ सभी के लिए भडा (देव) को भाषारभूत बुद्धि के रूप में स्वीकार किया गया है उसके बिना मोघ (परमा-नश) की प्राप्ति सम्भव नहीं है। मनोविश्लेषण-घासा के अनुसार भडा की स्थिति बही है वा प्रु क-प्रतिपादित जीवन-वेतना की जिसे कि ऊहाने जीवन की मूलभूत बुद्धि माना है। स्वभाव ही बहु राम-बुद्धि (निबिडो) क घाबक व्यापक है।

इसक घाठिरिल्ल वस्तु-रचना की दृष्टि म भी भडा की स्थिति का तीनों क

स्वल्प होना आवश्यक था। कामायनी की कथा का कार्य है त्रिपुर का एकीकरण जिसके उपरान्त मनु को धामम्ह-मोक की प्राप्ति होती है अर्थात् कथा-वस्तु के उद्देश्य की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार अग्रस्तुत कथा का कार्य है मान-वृत्ति कर्म-वृत्ति और ज्ञान-वृत्ति का समन्वय। इसके उपरान्त ही मन समरसता की स्थिति प्राप्त कर विरामम्ह-सीन हो जाता है और कथा का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है। वास्तु-कौशल की दृष्टि से यह कार्य मुख्य पात्र के द्वारा ही सम्पादित होना चाहिए और मुख्य पात्र स्पष्टतः कामायनी अर्थात् धृष्टा है। इस प्रकार दुस्सजी की इस कुमरी सम्भीर धापति का भी निराकरण अवश्य नहीं है और इसमें मन्वेह नहीं प्रभाव जी ने धृष्टा की मनोवैज्ञानिक स्थिति की इन मंगति-व्यय विद्या पर पुरुष विचार करने के उपरान्त ही उसको यह रूप दिया था। मुख्य जी द्वारा उठाई गई योजना उनके मन में न उठी हो यह बात नहीं मानी जा सकती।

बस कहानी और रेखाचित्र

‘सेनू बाबू, कैसे मया हमारा सनिवार समाज घापको ?
—कार स्टार्ट करते हुए मेने पूछ्य ।

‘मे तो काफ़ी प्रभावित हुआ । पिछनी बार मेने कान्ता से पूछ्य था कि
दिल्ली में साहित्यिक जीवन कसा है तो उसने कहा था कि साहित्यकार तो
यहाँ बुरे नहीं हैं लेकिन साहित्यिक जीवन कोई खास नहीं है । सेनेकर सनि-
वार समाज है उसमें नी तु-तु में-मे या हा-हा ही-ही रहती है । पर मात्र तो
मेने देखा कि यहाँ बिचार-विमर्श का स्तर पच्छी-मच्छी छात्रीय परिपत्रों से
ऊँचा रहता है ।

‘हां’ —कान्ता बो-लीन बार घाई थी । उन दिनों सचमुच थोड़ी-सी चिन्-
कता घा परई थी जो सदा प्रस्वामाधिक नहीं होती । रही हा-हा ही-ही की
बात—बह तो मात्र भी थी ही धीर मेरा प्रयास है मपरिदा के भीतर सदा रहनी
भी चाहिए । धाञ्चिर यह कोई परीक्षा-भवन तो है नहीं धीर न यहाँ कामिक
सहस्रम ही होता है । बास्तव में सनिवार समाज दिल्ली के साहित्यिक जीवन
की प्रमिष्यक्ति का अनिर्घार्य माध्यम बन गया है । बीच-बीच में बोझा-सा
श्रेयस्य या मामूली-सी रपड़ भले ही पैदा हो जाए पर साधारण
इसे मात्र समी का सदभाव प्राप्त है । पहले चिरंजीव ने इसे ठीक बना
रखा था धीर प्रब विष्णु जी ने जब से हम फिर संभाला है तब से इसमें
फिर जान घा गई है । विष्णु घादमो भले हैं धीर कुशल भी ।

‘लेकिन मोहन जोहरी सेठ जोस्य में मेने सहपाठी से परमानिया मुनिक-
मिटी में ६ बर्य अंग्रेजी के अध्यापक रहने के बाद हाम ही में टोरेटो म सीनर्य
घात्न’ पर पी०-एच जी की डिग्री लेकर घाये है । दिल्ली में घपने दिनी
मन्वन्धी क यहाँ घाये हुए से । पिछले न पिछले सनिवार की घाम को मेने घाच
से । हम गल पर सनिवार समाज में मेने गाच घाये से कि उनका घापरिचित र्यंर
हो रहने दिया जाये । इमी निचे पुष्क न कुछ बाड़ा हद कर कल में बैठ घये
ने धीर बिना बोझे मब-कुछ पुप-घाच रघन-मुत्तन रह घे । सेमे घने तजनी

स्पष्ट है। हिन्दी और अंग्रेजी दोनों में ही योद्धा-सा मित्र है पर जो कुछ मित्र है उसमें यमक और धार दोनों हैं।

दिस्ती दरवाजे पर एक महिला को उठारने के बाद मैंने फिर बातचीत का क्रम जारी रखते हुए कहा 'भाब का विषय क्या हुआ-सा था। तुम्हारा क्या जवाब है? तुम्हें किसकी बात ज्यादा अच्छी? मेरे इस वाक्य को सुनकर ऐसा लगा जैसे उनकी मौलिकता पर कोई चोट लगी हो। हालाँकि मेरा यह मतलब बिल्कुल नहीं था। बोले—'घाई फैन बिक फर माई सैल्फ सेफिन फिर भी भाब सभी के विचारों में पर्याप्त ठप्प था। घापके यहाँ कोई रेकार्ड नहीं रखा जाता क्या? मैं समझता हूँ आज की बहस को यदि सेब-बढ़ कर दिया जाए तो कहानी और रेखाचित्र के अन्तर पर पर्याप्त मौलिक निष्कर्ष बन सकता है।

मैंने कहा 'ऐसा कोई सांग बिबरण हम लोग नहीं रखते। किन्तु भावा भरे मन में भी है कि इसे सेब-बढ़ दिया जाए।

सैमू बाबू बोले—प्रश्न

सैमू बाबू ने घायल उसी रात को बैठ कर बहू सेब लिख डाला और सो-तीन दिन बाद टाइप कर के भेजे। मैंने भी चार-छ दिन में लिख डालने का वायदा किया पर काम इतना घा पड़ा कि मैं न लिख पाया और सैमू बाबू पिछले सोमवार को चले गये। मैं सोच रहा था आज तक तो अपना सेब तैयार कर ही चुका और दोनों को ही अगले सप्ताह की बैठक में पढ़ दूँगा। परन्तु मैं तो आज भी रह गया। इस सिधे धर घापके सामने अपने मित्र डा० सैमू बाबू का सेब ही प्रस्तुत किये देता हूँ। अपनी पोस्टर में अपना सेब भी निश्चय ही से घाड़गा।

× × × ×

"उस दिन माई नयेन्द्र के साथ दिस्ती के परिवार समाज म गया था। नयेन्द्र ने कहा कर लिया था कि मुझे अपरिचित हो रहने दिया जाएगा फिर भी मैंने कुछ और सावधानी बरती और उनसे थोड़ी दूर जाने में चुपचाप बैठ गया। इससे मुझे दुःखना लाभ हुआ। अनासक्त परिचय के उपहास म बच गया और साथ ही अज्ञानपूर्वक पोस्टर के बावनाप को मुन सका जो घायल नयेन्द्र के पास बैठने से मन्ना सम्मप नहीं था क्योंकि उनमें गम्भीरता और जवनाता का इतना अन्तरेत मिश्रण है कि दो-एक मिनट के अन्तर में ही न गम्भीर-म-गम्भीर बात और अज्ञान म अज्ञान बरबाद कर सकते हैं, क्लाम में एकाध बार मुझे उनकी महारानी में प्रोफेसर टडम का अकारण ही कोप-भावन बनना पड़ा था।

पोस्टर में कुछ रर उस दिन के सेब-बढ़ा भी दर की प्रतीक्षा रहे।

विचार और विस्फेपण

उनके माते ही सेब-माठ धारण हो गया। भी० दर दुहरे बरस के स्वस्व-प्रसन्न व्यक्ति थे। मुसाबस्या का उत्साह और धारण-विश्वास तथा प्रीति का साम्मीय उनमें था। घोड़ी-सी क्षमा-याचना के बाव उन्होंने अपना सेब धारण किया। इस क्षमा-याचना के दो कारण थे। एक तो समसामय के कारण सेब जस्दी में सिखा गया था और दूसरे हिन्दी में—जिसे उन्होंने धमी बोड़े बिन में धुका किया है। बसों बार्से ही ठीक थीं। सेब में—जस्दी के कारण निरचर ही असम्बद्धता भा गई थी दूसरे उसमें बिबेचन और विस्फेपण की प्रोधा बलन प्रथिक था। भाषा में उर्दू की बटक और बमक साफ जाहिर थी फिर भी हिन्दी के प्रति प्रत्यधिक संवेष्ट होने के कारण वह जगह-जगह कुछ बंधीर हो जाती थी और दर साहब को खानी बनाये रखने के लिए प्रायः सतुने को और कमी-कमी अपने बेहरे और परबन को भोल बना पड़ता था। और, वह तो मे यों ही प्रसंगगत कह गया दर साहब के सेल का प्रतिपाद परबंत स्पष्ट तथा निर्भ्रान्त था और इसका कारण यह था कि उन्होंने केवल बौद्धिक रूप से नहीं बरन् श्वाबहारिक रूप से पर्याप्त एक ठटस्य धामोचक की भाँति नहीं बरन् एक स्वतंत्र संसन्न कमाकार की दृष्टि से प्रसन्न पर विचार किया था। उनका प्रथमतः था कि कहानी और रेखाचित्र में कोई मौनिक अंतर नहीं है। यह बारला प्रसन्न है कि घटना की प्रभावता कहानी को रेखाचित्र से प्रयुक्त करती है। कहानी के लिए घटना विस्मृत प्रथिबार्थ नहीं है और इसके अतिरिक्त घटना केवल स्तूप और जीतिक ही हो यह भी जरूरी नहीं है वह मानसिक भी हो सकती है। इसी प्रकार तथाकथित रेखाचित्रों में भी घटना का एकत्रण प्रभाव नहीं हो सकता। अगर आप कहें कि रेखाचित्र में बरिच-अंकन की प्रभावता होती है तो यह भी कहानी के क्षेत्र में बाहर की चीज नहीं है। इन लिये रेखाचित्र कहानी का ही एक रूप है। प्रायः कहानी की परिमाणता इतनी व्यापक और उसकी रूप रेखा इतनी विचित्र हो गई है कि रेखाचित्र नाम की चीज अपने सभी रूपों में उनके भीतर ही आ जाती है।

इसके बाव बहस में कुछ जालीपन-ता भा गया। सोय एक-दूसरे से अपने विचार प्रकट करने के लिए सापह करने लगे। अंत में मनेत्र को ही बायता पड़ा। मनेत्र में येने प्राय भी बड़ी छिन्नक पाई जा प्राय मे १ = १६ बय पहले संष्ट जॉसेस में थी। यद्यपि उन्होंने कुछ दो-बार परिष्ट मिल भी लिये थे फिर भी वे जैसे कोई नियमित बळम्य इन ठ बच निकलने की काश्चि कर रू थे। प्राप्तिर उन्होंने कहना शुरू किया कहानी और रेखाचित्र में कोई धारणिक्रम प्रकट करना कठिन है फिर भी बार्से में अन्तर प्रवरण है क्योंकि वे बार्से प्राय

घान भी बराबर प्रचलित है और इसका प्रयोग करने वाले इनके द्वारा एक ही धर्म को व्यवस्था नहीं करते। कहानी के विषय में तो किसी को विशेष भावित होने की संभावना नहीं है। रेखाचित्र के विषय में ही कठिनाई है। स्पष्टतया ही रेखाचित्र पित्र-कृपा का मन्त्र है जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है। इसमें पित्रात्मक का मूल आधार रेखाएँ होती हैं। ज्यामिति में रेखा की विशेषता यह है कि इसमें सम्बन्धी मात्र होती है मोटाई-पौड़ाई धारि नहीं होती। प्रत्येक अपने मूल रूप में रेखाचित्र में मोटाई-पौड़ाई धारि मूर्त रूप और रंग धारि नहीं होते। उसमें आकार तो होता है पर भराव नहीं होता इसी लिए उसे खाका भी कहते हैं। जब पित्रकृपा का यह सम्बन्ध साक्षर्य में आया तो इसकी परिभाषा भी स्वभावतः इसके साथ आई धारि रेखाचित्र एक एही रचना के लिए प्रयुक्त होने लगा जिसमें रेखाएँ हों पर मूल रूप धारि उधार बढ़ाव—दूसरे धर्मों में कथानक का उधार-बढ़ाव—धारि न हो धर्मों का उद्घाटन मात्र हो। पूर्व धार्यात्मक प्रथम धार्यात्मक विकास न हो। रेखाचित्र में धर्म कुमते जाते हैं, संयोजित नहीं होते हैं। कहानी के लिए घटना का होना जरूरी नहीं है, पर रेखाचित्र के लिये उसका न होना जरूरी है। घटना का भराव वह बहुत नहीं कर सकता। इसी प्रकार कहानी के लिए विशेषण किसी प्रकार भी धार्यात्मक नहीं है, परन्तु रेखाचित्र का यह प्रायः धार्यात्मक धार्यात्मक है। —तपेन्द्र के वक्तव्य से लगता था उनके मन में कहानी और रेखाचित्र के मूलम अंतर की एक निश्चित धार्यात्मक अवस्था है और वह स्पष्ट भी है। बोझा सोचने पर वह मुझे, धार्यात्मक से सम्बन्धित हैं कृष्ण और धार्यात्मकों को भी स्पष्ट हो गयीं पर उनका कहने का ढंग धार्यात्मक नहीं था। उनका विचार स्पष्ट था पर उनका वाक्य एक दूसरे से सिपट जाते थे और वे हकमाने लगत थे। यह देखकर मुझे सैम्स जेम्स के धार्यात्मक हस्य याद आ गये जब बहुत के समय नयेन्द्र की कैम्पिठ रत्नाकर की धार्यात्मकों की धार्यात्मक हो जाती थी—'नेकु कही नैननि धनक कही नैननि सौ रही-सही सोऊ कहि बीनी हिचनीन सी'। मुझे याद है कि एक दिन वे पुस्तक में प्रकाशक ने भी सड़ गये थे और महीनों उनके यहाँ नहीं गये थे।

जब दिन भी कई ऐसे धार्यात्मक थे जिनको तपेन्द्र की बात उसन्धी-सी लगी। एक मौजवान उनसे उत्तर भी पड़े। बोले—डाक्टर साहब उदाहरण देकर धार्यात्मक स्पष्ट करें तो ठीक है। तपेन्द्र मन में उदाहरण सोचने लगे थे कि विष्णु जी ने महादेवी के रेखाचित्रों का धार्यात्मक किया। तपेन्द्र बोले "हाँ 'धार्यात्मक के धार्यात्मक' धार्यात्मक 'धार्यात्मक की धार्यात्मक' बोना ही धार्यात्मकों के धार्यात्मक

हैं। उपर प्रेमचन्द जी की प्रतिक्रिया कथा-कृतियाँ आत्मार्पण, मन्दिर, कफन आदि कहानियाँ हैं। पर प्रदलकर्ता इससे सन्तुष्ट नहीं हुए, उनका कहना था कि महादेवी की उपर्युक्त कृतियाँ रेखाचित्र नहीं हैं संस्मरण (मिमोस) हैं। परन्तु यह लोगों को मान्य नहीं हुआ। उस समय तो मुझे भी उनका ठीक कुछ वैमर्ती-सा मया और इसका कारण था यह था कि अंग्रेजी का (मिमोस) शब्द इस प्रसंग में कुछ भ्रामक था। ममायर्म में ऐतिहासिकता प्रायः अनिर्वाय-सी हो रही है और महादेवी के चित्रों में निरूपण ही वह बात नहीं है। परन्तु प्रदलकर्ता का ठीक सबबा असंगत नहीं था। महादेवी के वे चित्र प्रायः संस्मरण ही हैं। अन्तर इतना ही है कि उनके विषय प्रसिद्ध व्यक्ति न हो अपरिचित व्यक्ति हैं। लेकिन मरी धारणा है कि संस्मरण और रेखाचित्र में उनकी जाति एक ही है या यह कहिए कि संस्मरण रेखाचित्र का एक प्रकार मात्र है जिसमें एक व्यक्ति का चित्र होना है और वह व्यक्ति प्रायः वास्तविक होता है दार्शनिक नहीं।

'मिमोस' शब्द का अर्थ एक और सज्जन सामने आये। बाद में मुझ मान्य हुआ कि वे प्रो. बासकृष्ण से जो बहुत दिनों तक इतिहास के अध्यापक रहने के बाद आनन्दम गण्डुपति के प्रेस-अटैचमेंट हैं। उनका मत था कि ममोसर एक घण्टा पीछे है वह इतिहास की वस्तु है, उनके लिये ऐतिहासिक भ्रंश सम्बन्ध नहीं। परन्तु प्रो. बासकृष्ण को नयेन्द्र की स्थापनाओं पर भी आपत्ति थी। उन्होंने कहा कि पूर्व-आयोजन तो रेखाचित्र के लिये भी उनका ही आशय है कि जितना बहाना क लिए, अतएव यह बहाना ठीक नहीं है कि रेखाचित्र में कबल उद्घाटन मात्र होता है यह अंतर सापेक्षिक है। प्रो. बासकृष्ण न कृति अनायासित नहीं होती। दोनों में मात्रा का अंतर है। प्रो. बासकृष्ण न अपन तक था और आये बहाल हुए कहा अगर दोनों में आयोजन की मात्रा का ही अंतर है तब भी यह अंतर फार्म या कमेन्ट के रूप-आकार का ही रहा मूल आत्मा का नहीं। नयेन्द्र ने कहा प्रो. बासकृष्ण यह अंतर कमेन्ट व ही है यद्यपि कमेन्ट और आत्मा का एक-दूसरे में इतना अंतर सम्बन्ध है कि इन विषय में सबबा तेषाचित्र निर्दोष नहीं किया जा सकता। परन्तु सामान्यतः कहानी और रेखाचित्र एक दूसरे के इतने निकट है कि दोनों का अंतर प्रायः न होकर परीरक्षित ही माना जा सकता है। पता नहीं प्रो. बासकृष्ण को यह मत क्यों तट मान्य था, परन्तु उनकी धारणा इन विषय

में कुछ और ही थी। उनका कहना था कि रेखाचित्र में रेखाओं का आधार होता है, रंग धारि का नहीं। यद्यप्य उसमें सफ़्त धरति प्य जना का प्राधान्य रहता है। रेखा रंग की धरता मूरम है—जैस संकेत कवन की धरता। इस लिए रेखाचित्र और कहानी का मूस अन्तर यही है कि रेखाचित्र कहानी स सांक्रतिक धरि क होता है। नगेन्द्र न उन्नी यह स्वापना नहीं मानी क्यकि कहानी में भी उनक धनुमार धरि कधिक साकेतिकता हा सकती है और प्राय हाठी है। यह कहती कम है पाठक क मन में संक्रों द्वारा समर्ष-चित्र ही धरि क जयाती है।

इस प्रसंगोत्तर क उपरान्त एक और सज्जन थी विषारी न हमकी परन्तु विरषस्त धारान में कहा "भार, अन्तर राना में एक ही है" कहानी गत्यात्मक हाती है, रेखाचित्र स्थिर होता है। इस पर जेनेन्द्र जी न स्वीटति-मूषक मिर हिमाया—माना धर ठक के विषार-विनिमय में पहनी बार उष्य की बाठ कही गयी हा। परन्तु जेनेन्द्र जी के धामीर्षार के बावजूब भी एक मित्र विषारी जी से गत्यात्मक (Dynamic) और स्थिर या स्थिरात्मक (Static) गम्य की परिभाषा को लकर उतक पड़। कुछ ही धगा में अना न पारिभाषिक धरों का बटाटाप ध्य गया क्यकि बादी प्रतिकारी होला ही जाने-अनजाने पारि भाषिक धरों का प्रयोग कर रहे थे। प्रहार और प्रतिकार बाभा का ही माधन पारिभाषिक धर्य थे। परन्तु यह स्थिति धरि क देर ठक नहीं रही और संयो-जक महोदय ने इस धारिक गत्यबराध का भम करन क लिये जेनेन्द्र जी स धरने विषार धर्य करने का धनुराध किया। जेनेन्द्र जी स धारम्भ में भी धारह किया गया पा परन्तु उस समय उन्होंने कहा था कि हमें कुछ कहना नहीं है। इस पर मुझे धारष्य भी हुआ था क्यकि येने रेडिया पर उनक कई बलधय नुने स जिनमें प्रभुत्सन्न मति का धर्य निरगन था। इधर नगेन्द्र न भी इसकी पुष्टि करते हुए कहा था कि इस प्रकार के धारमिक परिणारा में जेनेन्द्र जी की प्रतिभा विधय रूप न निगर उठती है। इस बार जेनेन्द्र जी सहज स्वभाष ग प्रभुध से कुछे मया जैग के धारम्भ क नहीं उपसहार धरषा पों बहिए धरना क नहीं धापीबधन के धर्यस्त हा। जेनेन्द्र जा न धीर-धीरे बीष क धरों का—धार विभक्तिधों का—धीबधर उष्यारण करन हुए बाधना धुक किया। हमका ता विषारी जी का बाज धीक मयती है, परन्तु पारिभाषिक धर्य धरगानी पैदा कर देन दे। इसमें मन्देह कहा कि कहानी मतिमती हाती है और रेखाचित्र स्थिर। कहानी न रेखाचित्र ग एक पहनु धरि क हाता है परि रेखा चित्र में एक पहनु हाता है ता वहाभी में हा धीर धमर रेखाचित्र में हा मानिध

तो कहानी में तीन बानी धरर रेखाचित्र में चित्रक सम्पाई हो है तो कहानी में सम्पाई के प्रतिरिक्त बोवाई भी हाती है और धरर रेखाचित्र में सम्पाई और बोवाई होती है तो कहानी में माटाई या मासाई और माननी पड़ बी । लेकिन यहाँ भी सम्पाई की उत्तमज बड़ी हा गई । एक मिसाल रकर मैं अपनी बात और साक कर हू । सिनेमा में जैसे क्लोज-अप होता है यह तो रेखाचित्र हुआ जब कि एक बेहूच बड़ा हाते-हात सारे स्क्रीन को डक सेता है और बाकी डिम कहानी हुई । जैनेन्द्र जी की बात अपने प्राप में साक भी वास्तव में उनकी पारणार्थ अपने प्राप में पर्यन्त स्पष्ट थी और यदि कुछ कही उत्तमज रह भी जाती थी तो वह उनकी बाखी में बाले-घाते मुखरु जाती थी । प्राय ताओं के विचार बाखी स धावे बोकत है जिसके कारख उनके घब्र उत्तमज बात है । कुछ के विचारा और सखों में उचित संतुलन होता है परन्तु एक तीसरा बने भी होता है जिसके विचार तो देने हाते ही है उनकी बाखी उनस थी स्वाहा पीनी हाती है जो उनके विचारों में और कमक पैरा कर देती है । जैनेन्द्र जी में भी परन्तु अपने प्राप में वह तनेन्द्र के सखों में कही अधिक र्व्यंजक थी । फिर भी जैनेन्द्र भी को लगा कि जेभ उनकी बात का बाधित प्रभाव नहीं पड़ा । चारों ओर घाबें बुमाकर अपनी बात को धावे बड़ात हुए बोले—रेखाचित्र अपनी स्थिरता में कब्र पतिहीन हा जाता है वह सेप से कटकर अपने आप में स्वतन्त्र हो जाता है इस मिये उद्यमें रम और तीसता की कमी होती है । वह कुछ 'सेक्सुअर' हाता है । जैनेन्द्र जी जिस घब्र के मिये काफ़ी डेर स भद्रक रह ये वह मानो उम्ह मिस गया बा और उनका भोठा को चौका देने का उद्दस माना पूरा हा गया बा । इस मिये के अनायास ही गुप हाकर एक बार फिर इधर-उधर बकने ससे । 'सेक्सुअर' के इस विविध प्रयोग स मैं और मरी तख कब्र नए प्राप वास्तव में चौक यवे लेकिन अधिकसंघ सागों में उद्य ईड कर टाल दिया माना वह कोई नई बात नहीं थी । सम्भव है ये ताब बाबायल बिनाबा के बहाली घब्र पर पहले ही चौक नि य हों जिसम बाब उत्तमी प्रति धनि का बार जाली गया ।

जैनेन्द्र जी की बात का मेकर एक और सदस्य थी महावीर अधिकारी ने भी अपने विचार प्रकट किये । उनका क्लोज-अप वाली बात अर्थात् रेखाचित्र में एक व्यक्ति-विश्र-विषयक स्थापना बहुत पसन्द आई और उसी पर बल दन हुए उन्हूने कहा कि रेखाचित्र जहाँ एक व्यक्ति की तस्वीर ताबन राता है वहाँ बहानी व्यक्ति को ममात्र के संतर्भ में अलिप्त करती है—प्राण्य बहानी में

रेखाचित्र की धरोहरा अधिक सामाजिकता होती है। मुझ ऐसा मना कि यदि काटी को सामाजिकता चाहिए राधा पर जोर देकर बहस में कुछ प्रगतिशील रूप माने की कोशिश कर रहे थे पर विषय सर्वथा सैद्धान्तिक एवं पारिभाषिक या इतिहासिक उन्हें कुछ सु आमग नहीं मिनी।

बहुत यहाँ आकर समाप्त हो गई, और अंत में निवमानुसार धारम्यिक बक्ता भी० हर से बहस का जबाब देन के लिये कहा गया। भी हर अब भी अपनी बात पर जम हुए थे—उन्होंने प्रायः सभी विरोधी मुक्तिओं को अपने पक्ष में प्रयुक्त करके हुए फिर अपनी स्थापना को दृढ़ किया। उन्होंने कहा कि कहानी में तन्म-उद्घाटन विस्मरण चाहिए सभी हो सकते हैं और होते हैं। उनमें दो शायमेधन भी होती है और तीस भी इनी तरह एक व्यक्ति चित्र का होना उसक क्षेत्र से बाहर की चीज नहीं है। चरित्र-प्रधान कहानियों में प्रायः एक व्यक्ति-चित्र पर ही जोर देखा जाता है। रेखाचित्र को कहानी से बसग नाम और रूप देने की कोशिश बेकार है।

×

×

×

×

पर आकर सोचा कि हर करने से कहाचित् मन के बिना इतने स्पष्ट न रहे इसलिये जाना-बाना का कर ही निकल बैठ गया। सब से पहले तो मिस्टर हर की स्थापना ही सामने आई। इसमें संदेह नहीं कि भाव कहानी की परिभाषा इतनी विविध हो गई है कि रेखाचित्र भी उसमें समा सकता है। फिर भी इन दोनों शब्दों का दो अर्थों में सप्रयोजन प्रयोग होता है। अतएव दोनों में अंतर अवश्य है। रेखाचित्र में दो शायमेधन होती है। एक लेखक और उसके एकात्मक विषय के बीच की सम्बन्ध रेखा और दूसरी इस सम्बन्ध-रूप और पाठक के बीच का संवाचक रत्ता। रेखाचित्र का विषय निश्चय ही एकात्मक होता है। उसमें एक व्यक्ति या एक वस्तु ही उद्दिष्ट रहती है। कहानी में एक शायमेधन और बढ़ जाती है। यह पठिरिक्त शायमेधन विषय के प्रस्तर्न होती है। कहानी का विषय एकात्मक नहीं रहे सकता उनमें ईत भाव होना चाहिये अर्थात् एक व्यक्ति अपने में कहानी नहीं बन सकता। उभवा अपने आप में जाना कहानी के लिये काफ़ी नहीं है, कहानी में उस दूसरे या दूसरों की मापधता में कुछ करना होना—प्रम करना होगा, बैर करना होगा, कषा करनी होगी कुछ करना होगा—अपने में निभट कर रहे जाना काफ़ी नहीं होना अपने में बाहर निकलना होगा। इस प्रकार कहानी का विषय एक बिन्दु न होकर दो या अनेक बिन्दुओं की संयोजक रेखा होती है। यही एक पठिरिक्त शायमेधन है या कहानी में बढ़ जाती

है। इसी रूप में आप चाहें तो उस रेखाचित्र की अपेक्षा अधिक सत्यात्मक वह सीमित यद्यपि यह पक्ष स्थिति को स्पष्ट न कर उस उन्नतता ही है क्योंकि उपर्युक्त धर्म की ध्येयता यह सीधी नहीं करता। इसी लिये पाठक को समता है कि कहानी में रेखाचित्र की अपेक्षा उस अधिक होता है क्योंकि ईश में निस्सन्देह ही अद्वैत की अपेक्षा अधिक रस है और अन्त में इसी लिये रेखाचित्र को पढ़ कर ऐसा लगता है जैसे बात भ्रूरी रह गई। उसमें विज्ञान की उन्नति मात्र होकर रह जाती है इसके विपरीत कहानी में उमकी परिदृष्टि हो जाती है क्योंकि जहाँ रेखाचित्र में 'श्री' और 'तू' रहते हैं—में अर्थात् मूलतः लेखक और परिणामतः पाठक और 'तू' अर्थात् विषय वहाँ कहानी में 'मे' 'तू' और 'वह' का वृत्त पूरा हो जाता है।

ग्यारह पंत जी की भूमिकाएँ (क) पत्सव का प्रवेश

पत्सव की भूमिका हिन्दी में छायावाद-युग के प्राविर्भाव का ऐतिहासिक घोषणा-पत्र है। छायावाद हिन्दी साहित्य का अत्यन्त समृद्ध युग है। वास्तव में अन्ति-काल के अतिरिक्त काव्य का इतना उत्कृष्ट और किमी युग म नहीं हुआ। इस युग में हमारे साहित्य में पत्सव की भूमिका का ऐतिहासिक महत्त्व बहुत-कुछ वैसा ही है जैसा कि अंग्रेजी साहित्य में बर्ड्सवर्थ के लिरिकल वैसइस की भूमिका का।

पत्सव के इस पारम्भिक बक्तव्य का वास्तविक नाम 'भूमिका म होकर प्रवेश' है जिसमें छप्ते आकार के १२ पृष्ठ हैं—प्रथम से पूरा छह पृष्ठ का एक छोटा-सा 'विज्ञापन' भी है। इसमें पंत जी ने पत्सव की कविताओं के कुछ विशेष तथ्यों का उल्लेख किया है। इन दोनों को पुष्क रचने का कारण यह है कि 'विज्ञापन' में विशेष की चर्चा है और 'प्रवेश' में सामान्य मिश्रित का निरूपण। फिर भी 'विज्ञापन' को पत्सव की भूमिका का ही भाग मानना चाहिए उसमें भी काव्य-भाषा के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों का संकेत मिलता है का मिश्रित के ही अर्थ है।

जैसा कि पंत जी ने स्वयं ही स्वीकार किया है, प्रस्तुत भूमिका म काव्य कला के आन्तरिक रूप का विषय विक्षेपण नहीं किया गया। उसके बाह्य रूप का ही विवेचन किया गया है। काव्य के बाह्य रूप के अन्तर्गत कवि म मुख्य रूप से इन विषयों को ग्रहण किया है— १-भाषात्मिक हिन्दी काव्य की माध्यम भाषा। २-काव्य-भाषा का स्वरूप—(क) पर्याय शब्दों का अन्वय (ख) लिय निर्णय (ग) समास आदि ३-अन्वय ४-छंदी बोली का संगीत और छन्द विधान। आदि एक-एक कर इनका पर्यालोचन किया जाय।

अन्वय भाषा अनाम छंदी बोली

भाषात्मिक हिन्दी-काव्य की माध्यम भाषा के अर्थ में पंत जी ने सबसे अधिक उल्लेख एवं उल्लेख के साथ ग्रहण किया है। उक्त समय हिन्दी साहित्य

विचार और विस्फेपण

में कदाचित् सबसे अधिक ज्वलत विचार का प्रदत्त वा ब्रज-भाषा बनाम बड़ी होती। काव्य की नवीन जागृति का प्रसूत यह युवा कवि समझ होकर उस विचार में प्रवर्तीर्ण हुआ है। कहने की आवश्यकता नहीं कि पंत जी का निष्पन्न ब्रज भाषा के विरुद्ध और बड़ी होती के पक्ष में ही है उन्हां ब्रज-भाषा पर अनेक प्रबल प्रहार किये हैं। उदाहरण के लिए—

(१) ब्रज-भाषा का विकास एक कृत्रिम काव्य-भाषा के रूप में हुआ है। प्रत्येक वह पुस्तकों की भाषा मात्र बनकर रह गई है। वह एक नव-जागृत राष्ट्र की भाषा नहीं हो सकती। उसका राज्य-आच्छाद, अभिव्यंजना और संघीत कृत्रिम है—पंत जी ने उसके सौन्दर्य की उपमा पुरानी छीट की होती या पुराने प्रैडन की मिस्त्री से की है।

(२) उसमें माधुर्य और सौन्दर्य तो है किन्तु व्यापकता और महाप्राणता नहीं है।

(३) ब्रज भाषा की साहित्यिक परम्परा विनास-रूप्य और संकीर्ण है—उसमें ईश्वरानुराग की बौमुदी प्रपत्तियों में लिपे हुए विषयों को धेड़-धेड़ नचाती रही है।

(४) जब लोक-व्यवहार तथा गद्य-साहित्य की भाषा बड़ी होती है काव्य की भाषा ब्रज-भाषा कँस हो सकती है ?

जो भाषा ब्रज-भाषा कँस हो सकती है ? समस्त उत्तराखण्ड की राष्ट्र यह चुकी हो जिसमें मूर का सागर लहराता हो जिसमें भववान कृष्ण नखल-मचल कर माकम-रोटी भाँवी हो उस भाषा पर ये प्रहार वास्तव में अव्यक्त निर्मम है। फिर भी उनके पीछे एक निश्चित दृष्टिकोण है और उनके प्रीक्षित पर विचार करना प्रसंगत न होगा।

पंत जी का पहला धारण यह है कि ब्रज-भाषा साज-सँवार कर बड़ी हुई काव्य-भाषा मात्र है—वह काव्य-कविता में इतनी है उसके उपकरण कृत्रिम है प्रत्येक वह जीवन्त राष्ट्र-भाषा नहीं बन सकती। वास्तव में पंत जी के इस प्रहार का सत्य रीतिरामनीन ब्रज-भाषा है। इसमें सन्देह नहीं कि रीति-मुच में ब्रज-भाषा की इतनी प्रसाधना हुई थी—ममूलता और वाति की स्रष्टा इतनी बनवती हो गई थी कि उसका विकास-यय प्रवर्द्ध हो गया। कोमलता और कम्पनीयता के लिए प्राण क बिगड़त तब और जीवन के विस्तार वा उत्तर्ण कर दिया गया। हैब मजिदाम और प्रनामक की भाषा में स्निग्धता ही है महाप्राणता और धोत्र नहीं है—एक रस भाषुटी है प्रनक रूप जीवनाभिव्यक्ति नहीं है। निरन्तर स्मरण से जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के उत्कर्ष बनते रहते

है, इसी प्रकार भाषा के भी। आरम्भ से ही कोमल भाषा और प्रवीण काव्य-
 कर्मों का माध्यम होने के कारण ब्रज-भाषा के भी अपने संस्कार बन गये हैं जिनमें
 निरक्षर ही श्रोत्र की अपेक्षा सीकुमार्य का प्राधान्य है। अतएव ब्रज-भाषा पर
 यह आरोप तो बहुत बर्षों में टीका है कि वह जीवन के प्रागल्भ्य-पक्ष के ही अधिक
 अनुकूल है संघर्ष-पक्ष के नहीं। परन्तु इस तथ्य को भी बहुत दूर तक नहीं
 बसीटना चाहिए—संस्कारों का प्रभाव निरक्षर ही महत् होता है किन्तु उनमें
 भी शिक्षा और अभ्यास से परिवर्तन-परिमोचन संभव है—और फिर भाषा का
 बिछेपकर काव्य भाषा का आधार वस्तुपक्ष की अपेक्षा व्यक्तिगत या मायमत्त
 ही अधिक मानना चाहिए। काव्य तो प्रतीक मात्र है। उसका वस्तु-आधार है
 प्रकृत्य अर्थात् उसके भावार्थक रूप का महत्त्व प्रकृत्य है परन्तु वास्तविक
 महत्त्व तो उसमें निहित आरणा या भावना का है जिसका कि वह बाह्य है।
 इसीलिए किसी भाषा को जीवन के कबल एक ही पक्ष के साथ बाँध देना सर्वथा
 मनोवैज्ञानिक नहीं है। ब्रज-भाषा के संस्कार मधुर प्रकृत्य हैं—वह प्रकृता की
 अपेक्षा मुग्धा ही अधिक है वह इसी कोमलमत्ता है कि 'प्रिय' में म भी
 रेफ निकाल कर उसे अपने होंठों की मिठास में बोल कर 'पिय' बना देती है।
 किन्तु प्राकृत्यकटा पड़ने पर मूर्खों पर हाथ फिरवाने की शक्ति भी उसमें आ ही
 जाती है—और यदि परिस्थितियाँ इस प्रकार की होती तो उसकी ऊर्जस्विनी
 शक्तियों का विकास भी हो सकता था जैसे कि लड़ी बोली का हुआ। राम-
 चरित उपाध्याय की लड़ी बोली अन्त में वंत की समृद्ध भाषा बन गई। अतएव
 हमारा मत यही है कि इसमें सदेह नहीं ब्रज-भाषा जीवन के मुकुन्दार पक्ष के
 अधिक अनुकूल है, परन्तु उदात्त पक्ष की अतिव्यक्ति का माध्यम वह बन ही
 नहीं सकती यह कहना अनुचित होगा। इनके सामे दुर्निमता का आरोप और
 भी वर्गीर तथा अनुचित है—वंत जी का ध्यान यह है कि ब्रज-भाषा में पर्याप्त
 बलता और वैदग्ध्य का अभाव है, उसमें सन्नता और व्यक्तता की ये विभूतियाँ
 नहीं हैं जितना बिक्रम के स्वयं तथा उनके सहयोगी कवि लड़ी बोली में कर
 रहे थे। इसमें तो सन्देह नहीं कि ब्रज भाषा के रीति कर्षियों को जितना आश्रय
 वसुणता और शक्ति के प्रति था उतना बलता एवं वैदग्ध्य अथवा भाषा की
 साधनिक तथा व्यक्ततात्मक शक्ति का विकास के प्रति नहीं था परन्तु रीति
 गुण के उस रसात्मक काव्य में बलता का उतना अभाव नहीं है जितना वंत जी
 अथवा अन्य छायावादी कवि-प्रामोदक समझते थे। उस समय तक वास्तव म
 रीति-काव्य का इस दृष्टि से अध्ययन नहीं हुआ था—परन्तु उमक नाथ आचार्य
 रामपद मुक्त द्वारा पलायन की अतिव्यक्तता का और प्रस्तुत लेखक द्वारा इस को

ध्वंजना-प्रकृत का मार्मिक विवेचन किया है। हिन्दी काव्य-शास्त्र के इतिहास में यह समुत्पन्न भटना थी। भाषा के मनोविज्ञान के अनुसार कोई भी जो एक सवधा एक ही धर्म को प्रकट नहीं करते—व्याकरण भी यही कहता है। परन्तु “मिन्न-मिन्न पर्यायवाची शब्द प्रत्येक समीत-भेद के कारण एक ही पर्याय के मिन्न-मिन्न स्वरूपों को प्रकट करते हैं। पर्याय वास्तव में भाषा की ध्वंजना-प्रकृत का प्रायत समर्थ उपकरण है—संस्कृत के ह्यास-कास तथा पीठि-गुप में प्राकर जब एक के धर्म-विशेष के स्थापन पर समीत का मुख्य बह गया तो पर्याय शब्दों का यह सुन्दर रहस्य भी विस्मृत हो गया। परन्तु भारतीय काव्य-शास्त्र के लिए यह प्रस्ताव नहीं था—प्रामाण्य-धर्म पर्याय-धर्म और कृतक पर्याय-शब्दों के प्रसंगत इसका मार्मिक विस्फेपण कर चुके हैं। पठ जी ने पाठ्याय काव्य के मनन तथा अपनी प्रसंगी प्रतिभा के द्वारा पर्याय-मौलिक के उद्घाटन में प्रस्तुत मर्मज्ञता का परिचय दिया है—उन्होंने मर्मज्ञ प्रज्ञा के साथ कवि-कल्पना का संयोग कर इस प्रसंग को धारणित कर दिया है। उदाहरण के लिए लहर के पर्याय शब्दों का विस्फेपण भी लिए—“ऐसे ही हिमालय में उद्यम का धारास मिमता है।” (पृ. २५)। इस विषय में पठ जी का धर्मिमता है कि संस्कृत की पर्याय-कल्पना से प्रसंगी की पर्याय-कल्पना अधिक प्रायक तथा वैज्ञानिक है। उनका निष्कर्ष है कि संस्कृत में पर्याय-शब्दों का प्राचुर्य बृह-बृहों की प्रावत्यकता की पूर्ति का साधन है—शब्दों के घाट-बड़े बड़ा-उत्तार, उनकी श्रुति तथा मुर्छनाओं लघु लघु भेदों को प्रकट करने का साधन नहीं है—यैसा कि प्रसंगी में है। यह धारणा समुत्पन्न है—वास्तव में कितोर कवि के मन पर उन विनों विवेक का जागू बह कर बात रहा था अथवा यह भारतीय उपकरणों का उचित मूल्यांकन नहीं कर सका। संस्कृत की वैज्ञानिक-धर्मिता और धर्मिम्यकता किसी अन्य भाषा में नहीं है—प्रसंगी में तो वैज्ञानिक से भी कम है।

काव्य-भाषा के प्रसंग में पठ जी ने हिन्दी में मिम-निर्णय और समान-प्रयोग पर भी विचार प्रकट किये हैं। उनका मत है कि मिम का निर्णय एक के धर्म के अनुसार जाना चाहिए—धकारान्त-इकारान्त के अनुसार नहीं। जिस काव्य में कामलता मयता धारि रियमाहित पुन है उसे स्त्रीधर्म और विमर्ष पर्यता प्राकार धारि पुष्पोचित पुन हों उसे पुस्तक मानना चाहिए। मिम का धर्म के साथ साम्यस्य धर्मिधर्म है; “अप्यथा शब्दों का टिक-टिक विम सामने नहीं उतरता और कविता में उनका प्रयोग करते समय कल्पना कृत्रिमी हो जाती है।”—इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी के मिम-निर्णय के मूल में जो धारणा प्रकट प्रकट रूप से वर्तमान है, उसमें एक समुत्पन्न धारणा

‘लिंग का धर्म क साध सामंजस्य’ भी है। परन्तु इसका सार्थकीय प्रयोग नहीं हो सकता—एक तो यह बारखा स्वयं ही अत्यंत भाव-परक है क्योंकि स्त्रीत्व और पुंस्यत्व का आरोप मूलतः भावना का ही विषय है, दूसरे लोक-स्वभावहार की सत्ता का उल्लंघन भी सरल नहीं है। पंथ जी के अपने प्रयोग ही सफल नहीं हुए प्रभाव को वे स्वीकृत नहीं बना सके और पंथ में उनको अपनी बारखा में ही परिमोहन करना पड़ा। फिर भी धात्र से तीस वर्ष पूर्व मजबूत कवि के ये विचार अत्यंत प्रीड़ और कर्तव्यपूर्ण ने इसमें सन्देह नहीं और धात्र भी यदि हिन्दी के लिये को विशेष-सम्मत आधार बना है तो धर्म और लिये का यह सामंजस्य अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

हिन्दी के लिए पंथ जी एक और समास को और कूटरी और पूरक क्रिया ‘हुँ’को ल्याग्य मानते हैं। समास की कर्तव्यता तो अन्य मनीषियों ने भी जनम पहले और बाद में की है, परन्तु ‘हुँ’ का बहिष्कार कुछ विचित्र-सा था उसके बिना प्रस्तुत भूमिका के धनक वाक्य अजीब से समते हैं और परिणाम यह हुआ कि स्वयं पंथ जी ने मध्य-युग में धात्र सर्वत्र ‘हुँ’ जोड़ दिया है। यद्यपि ‘हुँ’ पर कवि का प्रकोप साधारणतः हमारी समझ में नहीं आता परन्तु यह विचार धर्मना धर्मनर्म नहीं था। बड़ी बोली का रूप इतना चिरनेपारमक है कि उसे वाक्य-भाषा के साथ में डालने के लिए निरवयव ही प्रवर्तक कवियों को कठिन काम करना पड़ा है। समास-गुण काव्य-भाषा का प्रतिपादक सलह है—और पूरक क्रियाएँ तथा अन्य पूरक पर अमाने से उसमें निरवयव ही दीक्षित या जाता है—त्रिवेदी-गुण के कवियों की धारमिक भाषा इसका प्रमाण है। इसी दीक्षित से लीककर प्रमनक बड़ी बोली का काव्य-रूपों में डालते हुए कलाकार कवि ने अपना तथा अन्य भाषाओं से प्रेरणा लेकर यह प्रस्ताव रखा था। साक्षरता इस सम्बन्ध में भी इतना प्रबल था कि पंथ जी का प्रयत्न कूटरी तरह विफल हुआ परन्तु फिर भी उनकी सहायता की दाव देनी ही चाहिए।

असकार

असकार कबल वाली की सजावट के लिए नहीं वे भाव की अतिव्यक्ति के विषय डार है। वे वाक् के हास-सम्प, स्वप्न-मुक्तक हाव-भाव है।” कहने का तात्पर्य यह है कि १ असकार अतिव्यक्ति के अतिव्यक्त धर्म है— वे ऊपर से बारख क्रिये हुए धारण नहीं है, २ और इस रूप में भी वे साधन भाव है, उनकी स्वतंत्र सत्ता भी नहीं है, साध्य होने का ता प्रबल हो नहीं उठता असकार जहाँ धर्म न बनी हुए बड़ी प्रयत्नका पैदा जाती है। यह स्थिति

कालों के अभिन्ननावाद और भारतीय असंकारवाद की मध्यवर्ती है। पठ की काल की माँठि धर्मकार को धर्मनाम से अभिन्नता नहीं मानते हैं—उप रूप में जो असंकार का अस्तित्व ही मिट जाता है परन्तु वे उसकी स्वतंत्र रत्ता के समकक नहीं हैं। वास्तव में यही दृष्टिकोण संघत भी है—इसमें दोनों प्रसर का अतिबाध रूप जाता है। इसके अतिरिक्त पठ की असंकारों की सख्या निरिधत करन क विषय है। असंकार वास्तव में भाषा का भाव-प्रतिष्ठ बज प्रयोग है और ऐसे प्रयोगों को सख्या में बाँधना सम्भव नहीं है।

छन्द-विधान

प्रस्तुत सुमिका का सबसे मामिक अंश छन्द-विधान है। उत समय जबकि छन्द-विचार बर्ण भाषा की गणना तथा यति यति आदि से जाये मही जाता था पठ जी न छन्द के मनोविज्ञान का सूक्ष्म-सरस विदसेपण किया है। छन्द के प्रकरण में पठ की माम्यताएँ इस प्रकार हैं

१ कविता तथा छन्द के बीच बड़ा अन्तिष्ठ सम्बन्ध है—कविता का स्वभाव ही छन्द में सममान होता है।

२ छन्द का भाषा क उच्चारण उसके संवीत क साथ गहरा सम्बन्ध है। संस्कृत का संवीत भाषा की संक्षेपारमक प्रकृति के कारस गृहसाकार भवना कार हो गया है—बहु हिस्नामाकार माधोपमा में प्रवाहित होता है। हिन्दी की प्रकृति विक्षेपारमक है अथएव उसका संगीत मोल सहरों का अथन करण बाल-अकारों का अेकानुप्राय है।

३ अथएव संस्कृत का संवीत अर्थजन प्रधान है और बर्ल-वृत्त उसके महर बाहन है। हिन्दी का संवीत स्वर प्रधान है जिसके सहन माध्यम है माषिक वृत्त। इस दृष्टि में रीति-कवियों क भिय छन्द मर्बया और कविता हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल महीं है। संख्या में एक ही समय की घाट बार पुनःवृत्ति होने में एक प्रकार की जड़ता तथा एकस्वरता आजाती है और राम का अिधम मृदु हो जाता है। कविता में राम अम्ब प्रधान हा जाता है, बाणी के स्वाभाविक स्वर और संवीत का प्रभाव कक जाता है जिसकी वृत्ति अनुप्राया तथा धर्मनामों की अथिकता ग करमी पड़ती है।

४ तुक राम का हृदय है—राम की गमकठ छाटी-मही माँठिया बाला अन्वयानुप्राय क नाही अक में अग्निवत रहनी है। तुक उमी अम्ब में अथएव मफता है जो पर-विधोप में मधी भावता वा धापाय-स्वरूप हो। अनुप्राय मृदु में दिव की कर्म-अ्यस्त जनबाध कवि है और तुकाम में प्रनाय तथा मध्या वा विराय मुक्त अनुमिता पर्यन्त।

५. मुक्त छन्द का आधार सय है। यह आन्तरिक ऐक्य दर्शाते भाव-साम्य पर लक्ष्यमित है। इस प्रकार की कविता में धर्मों की गठन की ओर विशेष ध्यान रचना पड़ता है। अन्य छन्दा की तरह हिन्दी में मुक्त काव्य भी ह्रस्व शीघ्र मात्रिक संगीत की सय पर ही सफल हो सकता है।

य विचार निरूपण ही छन्द के संकीर्ण मर्म ज्ञान का परिचायक है। पुष्पा कवि ने भाषा और छन्द की धारणा में पैठ कर उनके मूलवर्ती रूहियों का उद्घाटन किया है। तुफ का विशेषण हिन्दी में बहुत कम हुआ है—मात्र भी इस उपेक्षित किन्तु अत्यन्त महत्वपूर्ण बस्तु का विशेषण के लिए 'रीति-युग' का आशय दास की प्रशंसा की जाती है। किन्तु राम ने जहाँ उसके बाह्य रूप और स्मृत भेदा की ही चर्चा की है, वहाँ पत जी ने पहली बार हिन्दी में तुफ का मर्म का निरूपण किया है। "तुफ उनी गद्य में अछूत लज्जा है या पर-विशेष में बुंधी भावना का आधार-स्वरूप हो।" —इस मार्मिक तथ्य का उस समय कितने तुफरुद कवि और पितामहाय समझते थे? परन्तु फिर भी पत जी के सभी विचार अतर्क्य नहीं हैं। कुछ तो निरूपण ही समाम्य हैं। इसमें सबहूँ नहीं कि हिन्दी की प्रकृति निरूपणार्थक है परन्तु पंत जी अपने कोमल स्वभाव का आग्रह से इस तथ्य का बहुत दूर तक पर्याप्त से पये हैं और उनके कुछ निष्कर्ष अत्यंत एकांगी हो गये हैं। उदाहरण के लिए उनका यह निष्कर्ष कि हिन्दी का संगीत का मूल आधार स्वर है स्वजन नहीं है उनकी अपनी भीति प्रतिभा की अभिव्यक्ति में तो निरूपण ही महायुक्त हुआ है किन्तु उनके काव्य में उदात्त और विराट स्वर का अभाव भी बहुत कुछ इसी का परिणाम है। व्यक्तित्व की बहुलता का भिन्न केवल रक्तवाही न्याय ही पर्याप्त नहीं है, हृदय जलित-जाल और पुष्ट मान-वैगियाँ तो उनी ही आश्चर्यक हैं। पत-काव्य का विशेषण करत समय मर मन में अनन्त बार यह बात आती है कि जहाँ आन्तरिक भाव-विषय विराट हैं वहाँ भा उमका भूनाकार विराट नहीं हो पाया 'सन् १९८०' नामक कविता के रूपन को पुष्ट करेगी। इसका एक कारण यह पारणा भी है कि हिन्दी का संगीत का मूल आधार स्वर है स्वजन नहीं। मुक्त छन्द तो कवच स्वर का आधार पर अपनी गरिमा का विकास कर ही नहीं सकता। विराटा और वंत का मुक्त छन्दा का अंतर इनका प्रमाण है। वास्तव में संगीत की पर्याप्त स्वर और स्वजन दालों की सैरी पर ही निर्भर है—उनकी ऊर्ध्वस्वित संपादनाभा का आग हा उदात्त संगीत की मूर्ति सम्भव है। इसी प्रकार मज्जा की मत्तकपन्द पति और तबिल का तरमायित भावन-प्रवाह का प्रति भी पत जी की गीतमयी स्वरप्रियाता न सम्याय दिया है। मात्र की गरिमा की उल्लेखा करके पत जी की



अधिक सार्थक माना जान लगा। धास्व की छायावसी में काव्य के कला-पक्ष की प्रतीकना रीति-कविओं से मुक्त होकर मनावैज्ञानिक होने लगी।

इसका एक विपरीत प्रभाव पड़ा—कला-पक्ष के विवेचन में रूचि बढ़ जाने में छायावाद के विषय में यह धारणा बनने लगी कि यह काव्य-धिस्य का—अभिध्वंजना का—एक प्रकार भाष है। मुक्त जी जैसे उद्भूत धामाचक इस धान्ति के धिकार हो गये। परन्तु इसमें वैचारे पंथ जी का क्या रोग ? उस समय कलावित् इसकी धावस्वकता अधिक थी—बाद में काव्य के विचार और भाव-पक्ष का उन्हीं धास्वन्त प्रीक विवेचन किया है वरन् यह कहना चाहिए कि बाद में तो उन्होंने कला-पक्ष को एक प्रकार से छोड़ ही दिया है।

प्रस्तुत भूमिका के रोग भी उतने ही मुक्त हैं जितन कि दुःख। पंथ जी प्रतिभाशाल कवि हैं उनमें युग-प्रवर्तक की धसाधारण प्रतिभा है। धतएव धपनी प्रतिभा के धम पर वे काव्य के ऐसे धनक ररुस्यों का महत्त्व ही साधाएकार कर रुक जा धिभा धौर धन्माय के लिये साधाम्यतः सम्मन नहीं वे। परन्तु विचार के लिये प्रीक का भी महत्त्व कम नहीं है। भूमिका में प्रतिभा की रीति ता धवस्व है परन्तु प्रीक धौर सतुनित विचार की न्यूनता है। धन-भाषा धौर नाहित्य के विरुद्ध उतका धाध्मेध सर्वथा न्याय्य नहीं है, रीति-काव्य के रम-सिद्ध कवियों के प्रति भी वे धास्वन्त कठोर हैं : उमी प्रवाह में वे कवित्त धौर सबैया का भी विरस्कार कर बैठ हैं। एसा प्रतीत होता है कि एक ता कवि पर पाठ्याय साहित्य धौर रसन का प्रभाव इतना अधिक है कि उसके मन में भारतीय वाग्मय के प्रति उपधा-भाव उत्पन्न हो गया है। हमारे मनीन कविता के तत्कासात विरोध न जा बड़े स्तुन कम में प्रकट हो रहा का उस कृद्ध और उलजित कर दिया है। इस लिये पंथ जी का ध्यंय स्वान-स्वान पर उनक सौम्य स्वभाव के विपरीत बड़ा ठीला हो उठ है। फिर भी कारख बाहे जो कुछ हो पस्वक की भूमिका में बाधित प्रीकता धौर अनुसत का धभाव है। यही बात इसकी भाषा के विषय में है—भूमिका की भाषा के भी पुस-रोग साऊ धतक-धतप धमक जात है। एक धोर उनमें कवित्त की छटा धौर धास्वन्त धामिक साधनिक प्रयोग है तो हमरी धार इधिमता धौर बाधाधन्वर भी कम नहीं है। कहीं-कहीं नापा के धम्मा बत में विचार एकदम धिन जाता है। पुनरुक्ति का भी धभाव नहीं है—धीर स्वान-स्वान पर एसा समता है जैसे कवि धरने उरुस्व को भूत कर भाषा की धरा को ही साध्य मान बैठ है। उरुस्वों का यह विपर्यय धपन भाष में एक बड़ा धपराय है। कुछ पारिभाषिक धम्नों का प्रयोग भी धरगट या धधुज

बाजी ही है। ध्रुव सब विचार, भाव धैनी धादि उसकी पुष्टि के लिए धौष रूप से काम करत है।" इस स्पष्ट स्वीकाराङ्कित में पंत-आत्म्य की प्रकृति और परिधीमा निहित है। पंत जी न भाव प्रथवा धनुमुष्टि के स्थान पर कल्पना को जीवन का सबसे बड़ा सत्य माना है। यह मान्यता इस सत्य की स्वीकृति है कि हमारे प्राथम्य सदा हमारे स्वभाव प्रथवा प्रंत संस्कारों के उत्पन्न भाव होते हैं। पंत जी के सकोषजीव धनुमत्र भी स्वभाव का सबसे बड़ा सहाय कल्पना ही है—धनुमुष्टि के रक्त-मांस न ध्रुपुट जलक संस्कार कल्पना की बायबी ओहाओं में ही सुख से सकते हैं। कल्पना जीवन के लिए बरघत है, इसमें क्या तदेह है। किन्तु धनुमुष्टि का स्वयं जीवन ही है। धनुमुष्टि के पापव में ही कल्पना की सिद्धि है, किन्तु पंत जी भाव का कल्पना का पोषक उपकरण मानते हैं। यह वास्तव में जीवन-तत्त्वों का मौलिक विपर्यय है और पंत के कल्प्य में जीवन की प्राणवता तथा रक्त-मांस का प्रभाव इती के कारण है। शाय्या के विषय में उनही सज्जाई है। 'शाम जीवन में मिस कर जमक भीतर स में इसमिप नहीं मिस सफा कि मेने शान-जनता का 'रक्त-मांस के जीवों के रूप में नहीं देखा है, एक मरणाभेमुषो संस्कृति के प्रथम के रूप में देखा है।—पंत जी धना करें यह तर्क निष्पाण है। शाय्या की सृष्टि, जैसा उन्हनि स्वयं स्वीकार किया है, विचार-काराणों स्वप्ना और कल्पनाओं से प्रकृति होकर की गयी है, उसके पीछे धनुमुष्ट सत्या की जीवन्त प्रेरणा नहीं है—विचार, कल्पना और स्वप्नों की प्रस-त्यस प्रेरणा है। वास्तव में विचार और कल्पना की अधिक स अधिक सम्भव विभूतियों का धर्मन पंत जी कर चुक है—पर प्रायध धनुमुष्टि की भाव में तपे बिना जीवन की मूर्ति पूर्णतम कैसे हो सकती है ?

प्रंत-संवेतना वा विस्फेपण 'उत्तर' की प्रस्तावना में और भी धूम-मद्दत हो गया है—कवि का चिंतन इन समय की धर्षिकर क प्रतर्षतनाबाद' स प्रभावित है। परन्तु प्रंत-संवेतनाबाद की यह धाधतपूर्ण स्वीकृति कोई नवीन परना नहीं है। जैसा कि पंत जी ने स्वयं स्पष्ट किया है यह उनकी विचार-परम्परा की सदा परिणति भाव है।

"आस्था में मेने जीवन की दिन बहिरस्तर मान्यताओं वा समन्वय करने का प्रयत्न तथा नवीन सामाजिकता (बालवता) में एक क्रांतित होने की धार इमित किया है 'धुपबाजी' तथा 'शाय्या' में उन्ही के बहिर्मुखी (समयन) संघर्ष को (जो भाष्यभाष का धन है) तथा स्वयं किरल' में धनुमुष्टी (रूप) संघर्ष को (जो धम्पाव का धन है) धार्मिक प्रपानता ही है, किन्तु समन्वय तथा प्रदनेपण वा इष्टिवाय एवं तद्वन्तित भाष्यार्थ दोनों में तबान

क्य म वर्तमान है और दोनों कालों की रचनाओं म इस प्रकार के घनेक उद्धार लिये जा सकते हैं। 'सुमनाली' तथा 'घाम्या' म यदि ऊर्ध्व मार्गों का सम परात्म पर समन्वय हुआ है तो 'स्वर्ण किरण' 'स्वर्ण भूति' म समस्त मार्गों का ऊर्ध्व परात्म पर वा तत्त्वतः एक ही सध्य की धार निर्देश करत है।

पंथ जी के अनुसार इस युग की विपमताओं का समाधान है मोक्ष-संयत्न और मन संयत्न—स्वस्व भीतिक्रम और घाम्यामना के समन्वय से निर्मित सांस्कृतिक चेतना जिसे उन्होंने अतर्पितना तथा नवमानववाद भी कहा है। यह चेतना मानव के ऊर्ध्व विकास और समस्त विनाम की पूर्ण अनुमित स्थिति है। धात्र के कर्माकार का भी इसी म धयना सौन्दर्य-बोध प्राप्त करना होगा। कवि के अपने धर्मों में "जीवन के सतत को मानस तम के अपर महीन सौन्दर्य वाद में प्रतिष्ठित कर उसमें परार्थ की पंजुड़ियों का अनुमित प्रसार तथा चेतना की किरणों का सतरंग ऐश्वर्य भरना होगा। पंथ जी की विचारधारा की यही परिणति है। पंथ जी के इस दार्शनिक चिन्तन पर अथवा धारि के महीन अनुसंधान का भी प्रभाव है परन्तु कवि ने प्रायः-शास्त्र पर धारित उनके उपचेतनवाद को मान्यता-रूप में स्वीकार नहीं किया उसकी प्रक्रिया मान का उपयोग किया है। वास्तव में पंथ जी की चिन्ता-धारा के चरम परिपाक-रूप इस रचना का प्रस्तुत भूमिका में अत्यन्त सफल तथा मभीर विवेचन हुआ है। इस प्रौढ़ विवेचना को डा० रामबिहारी क एक लेख में प्रेरणा मिली है—उसका उत्तर या प्रत्यालोचन तो यह नहीं है क्योंकि उत्तर वा धारिवापी समकक्ष व्यक्ति ही हो सकता है किन्तु फिर भी इसकी पृष्ठभूमि म डाक्टर धर्मा का यह युगान्तक लेख वा धारिवा तिसकी कृपा म साहित्यिक विप्लव क उम अस्यायु तथाकथित प्रगतिवादी युग का सङ्घर्ष प्रकट हो गया है। काव्य के धारमर्या मम-शाठा और मिद्वान्त-म्यवभायी के सांस्कृतिक स्तर में चितना अंतर होता है इसका आनाम प्रस्तुत भूमिका और उत्तर डा० धर्मा के लेख के सुगम्य धाम्यमन से धारको महज ही मिल जाएगा।

पंथ-यम का दूसरा बंध इतना मभीर बाहे न हो किन्तु रोचक धारि है। उसमें पंथ जी के कवि-जीवन के धनक ऐसे संस्मरण हैं जो अत्यन्त आन-वर्षक है और रोचक भी है। उदाहरण क लिए पंथ-साहित्य क चिन्तन धाम्यता यह जानते हैं कि पंथ जी का नवने पहले काव्य प्ररमा नवमण्डित क हिन्दी मयभूत न मिली थी। पंथ के काव्य पर आसिधास का प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट है इसलिए यह अनुमान बाहे धार कर भी में किन्तु क्या धार क्यना कर सकते हैं कि पंथ क धारिभ्रक प्रेरक प्रभावों में नरोत्तमराम कृष्ण नारायण-वरित भी है और

पुरु में नाचुराम धरर घर्मा की कविता भी पठ बी को धख्टी लखती बी । पठ बी धल्ल-सधीठ मही है किन्तु उन्हेने पुस्तकों की अपेधा प्रकृति और प्रकृति के बाह म्हापुर्णों के रर्धन धरवा मानसिक सत्संघ से अधिक सीधा है । किन को पुस्तर्धा का उन्हेने विधय रूप से उल्लेख किया है उनमें पहले बाइबिल और तलरबाद् उपनिषद् का नाम धाठा है । बास्तव में यह स्वीकृति किन्तो सहज सत्स है । पंठ बी के बास-सरस स्वभाव को निरखय ही बाइबिल का तलर धितन अधिक अनुकूल रहा हावा — इनमें मन्द् है मही । इम लह का दूसरा लेख भी काफी रोषक है और बह है 'यदि में कामायनी मिलता । पठ बी ने धल्लन्त निरखम भाव म स्वीकार किया है कि कामायनी मिलना उनके लिए धल्लम्भ बा धोर यह बात भी ठीक ही है । पंठ और प्रसाध दोनों की प्रतिभाधों में प्रौमिक येर है । पठ बी की प्रतिभा यदि मुम्पा किन्तोपी है तो प्रसाध बी की प्रतिभा रलम्भरा सुवती । प्रसाध का मधुर और विरट होने पर अधिकार या पंठ बी की कोमल कल्पना मधुर के साथ तो विस्मय-विमुग्ध कीर्णार्ण करने में प्रकम्भ है किन्तु उनकी कोमल बाँहें विरट को धपने धामिलन में मही बाँध लकती । फिर भी कामायनी के विषय में पंठ बी क कुछ निष्कर्ष इतने पने हैं कि तुल्य ही कामायनी के ध्रष्येता के मन में प्रकाश कर जाते हैं । उदाहरण क लिए उनका यह धारोप किन्ता मानिक धोर ललसर्णों है कि कामायनी में धल्लन्त नाधा-रणीकरण के कारण रीतिरूप का धभाव मिलता है । इसलिए यह मन को पकड़ मही लकती । कला क सम्बन्ध में भी उनका यह धारोप धल्लन्त सार्थक है कि कामायनी की कला-येना में जैसा निखार मिलता है कला-रिल्ल धपवा धल्ल गिल्ल में बीमी प्रौढता नही मिलती । कामायनी में कला-बैभव कम मही है किन्तु फिर भी पठ के काध्य धिल्ल की निर्दोषता उनमें कही ? कामायनी के प्रति येर पध्याती मन इमका उत्तर भी तुल्य से देता है धोर बह यह कि निर्दोषता धाय प्राण-नाल्लि की म्युलता वन पर्याप्त हो जाती है । कामायनीकार को कला धपनी म्हाधानता म यदि बही-नही धनयड़ भी है तो उनकी धनयड़ना भी कल-नुषार-मन्दिठ हिमालय की धनयड़ना है । इम लंघ में भी कल्ल लेम धल्लन्त धम्नीर धोर मौनिक है जैसे कला का प्रयोधन धाधुनिक धाध-प्ररवा के साथ धादि । उनही लबां फिर कभी धोर कही कल वा । कुल धिल्ल-कर गध-रब धाधुनिक हिरी साहित्य वर धमूष्य प्रलंग है । बह पठ क काध्य रलागार की स्वर्ण कञ्जरी तो है ही उनके द्वारा धाधुनिक काध्य के धनंठ कुनर र्ण्यों का उद्धारन भी म्हात्र ही हो जाता है ।

घरह नव निर्माण

“साहित्य की व्यापकता के उपादान”

एक भाषण-भाषा का नाम है ‘नव निर्माण’ और प्रस्तुत भाषण का चोपक है “साहित्य की व्यापकता के उपादान । इन में एक बात स्पष्ट होती है— हिन्दी भाषा भारत की राष्ट्र भाषा है उसे धरन पद के अनुकूप सम्पन्न बनाने के लिये उच्च नव निर्माण आवश्यक है । उसका उद्देश्य-मांडार समुच्च उमका व्याकरण मरम तथा उमका साहित्य व्यापक हुआ चाहिए ।

दूसरी बात इसके साथ यह ठट्ठी है कि साहित्य की व्यापक बनाने के साधन क्या है ? अर्थात् साहित्य की व्यापकता के उपादान क्या है ?

मर जैन व्यक्ति के मन में ओ साहित्य का मूमठ एक व्यक्ति-परक प्रतिक्रिया मानता है साहित्य के निर्माण या नव निर्माण की बात सहज ही नहीं बैठती । साहित्य को यदि हम वाङ्मय के अर्थ में प्रयुक्त करें तब ता ठीक है— वाङ्मय के अंतर्गत ओ सूत्रन और व्यवहार अथवा एम और ज्ञान होना का साहित्य का जाता है । व्यवहार या ज्ञान का साहित्य प्रायः जीवन की व्यापक हारिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है और जिस तरह हम जीवन के अन्य व्यवहारगत सूत्र मापनों का निर्माण संघटन अथवा आयोजन-नियोजन करते रहते हैं इसी तरह उनमें सम्बद्ध साहित्य का भी निर्माण किया जा सकता है और किया जाना भी चाहिये । और स्पष्ट उद्यों में जहाँ तक हिन्दी के विज्ञान उद्यनीति अर्थ-शास्त्र आदि में सम्बद्ध पारिभाषिक साहित्य के नव निर्माण का प्रश्न है वह सम्भव हो नहीं सकता वाङ्मयिक है । इस अर्थ में हिन्दी का कोप निबन्ध है, और उसकी पूर्ति राष्ट्र का हिन्दी के प्रति और हिन्दी का राष्ट्र के प्रति दायित्व है ।

परन्तु प्रश्न एम के साहित्य का है जिस हीकिवम्भी ने ‘व्यक्ति का साहित्य’ कहा है, प्राचीन भारतीय धर्मशास्त्र-शास्त्र में जिस ‘अर्थ्य’ और धातुनिक शास्त्राध्ययना-शास्त्र में ‘सूत्रन का साहित्य’ नाम दिया गया है । इसके निर्माण या नव निर्माण की सम्भावना जहाँ तक है ? हमारा साहित्य अमममन नहीं है परन्तु उसकी और अधिक भीवृद्धि किसको अग्रिय हानी ? पर प्रश्न यह

है कि क्या हमारे सचेष्ट एवं संपठित प्रयत्नों द्वारा यह सम्भव होगा ? क्या सृजन के साहित्य का सचेष्ट प्रयत्नों द्वारा निर्माण किया जा सकता है, और यदि किया जा सकता है तो क्या यह सृजन का साहित्य होगा ? वास्तव में सृजन के साहित्य का निर्माण यह उक्ति ही एक स्व-विरोधी उक्ति है । सृजन किया नहीं जाता होता है—कृष्णपूर्वक यात्रा का अनुसार, निर्माण किया जाता है सृजन का प्रतिबन्ध प्रेरणा के दबाव से होता है । उदाहरण के लिये भारतीय प्रचारिणी सभा एक सामूहिक प्रस्ताव द्वारा सम्म-सम्मिर का निर्माण कर सकती थी वैज्ञानिक तथा पारिभाषिक सम्भावनी तैयार कर सकती थी राजनीति धर्म-शास्त्र पर ग्रंथ प्रस्तुत कर सकती थी जनक प्राचीन ग्रंथों का सम्पादन कर सकती थी परन्तु पस्तक या सेवा करने की बृष्टि नहीं कर सकती थी । आज भी कोई सरकारी या अ-सरकारी संस्था वैधानिक सम्भावनी का निर्माण कर सकती है सचिवालय के एक दो या तीन अनुवाद प्रस्तुत कर सकती है परन्तु सचिवालय के मूल उद्देश्यों को सामने रख कर एक महाकाम्य की तो क्या एक छोटे-से भीत की भी रचना नहीं कर सकती । इसका कारण स्पष्ट है—रस का साहित्य एक संगठित ध्येयवा ध्यायित प्रयत्न नहीं है यह व्यक्ति का धारम-साक्षात्कार है धारमामिष्यंजन है और व्यापक बचतस पर उप्यु वा धारम-साक्षात्कार तथा धारमामिष्यंजन ही हो सकता है और होता है; परन्तु उन रूप में भी यह सामूहिक ध्येयवा ध्यायित प्रक्रिया नहीं है। उदा उदा रूप में भी उप्यु व्यक्ति के ही चिन्तन द्वारा धारम-साक्षात्कार करता है, और व्यक्ति की ही भाषा में धारमामिष्यंजन करता है । उदाहरण के लिये मांजी के चिन्तन में भारत न धारम-साक्षात्कार किया और रबीन्द्र की भाषा में धारमामिष्यंजन । भारतीय समाचार्य न हमी परम सत्य को अनुभव और विचार की कर्तव्यी दर पूरी तरह कम कर रख लिया था । अभी उनका काम्य के हतुसा में सामूहिक वा ध्यायित प्रयत्न की वसपना तक नहीं की । प्रतिभा निपुणता और ब्रह्मास वे तीर्मा ही व्यक्तिगत हुए हैं । इन तीनों में भी प्रतिभा को सर्व-प्रमुख माना गया है और प्रतिभा एकल वैयक्तिक सम्पत्ति है ।

ये यहाँ परम्परा के धारम में मरण लेने का प्रयत्न नहीं कर रहा बुद्धि का ही प्रमाण मान रहा है । प्रतिभा को मैं प्रतिबन्धीय ब्रह्मान्तर प्राप्त पक्ति के रूप में ग्रहण नहीं कर रहा हूँ यद्यपि ईसा भी कोई माल ठा में उभर विचार नहीं कर रहा । प्रतिभा का मैं यहाँ चतना के रूप में मानता हूँ । व्यक्ति की उद्दीय पक्ति वा अनुभूति चिन्तन विचार सुक्ष्म कल्पना धारि क्रियाएँ कर्तव्य , चतना है । चतना की प्रवर्तना, महनता मूरतता धारि की ही प्रतिभा वा

नाम दिया जाता है। जिसकी चेतना में ये गुण हों वही प्रतिभावान है—यह चाहे पर्व-व्रत्म के सस्वारों का परिणाम हो या इस जगम की परिस्थितियों का। प्रतिभा का निर्माण नहीं किया जा सकता वह इतनी जीवन्त है कि निर्माता का स्वयं भी सहन नहीं कर सकती। हमारा संबन्धित प्रयत्न केवल एक ही महत्त्वता कर सकता है और वह यह कि साहित्य-सृजन के लिये अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दे। उदाहरण के लिये राज्य यह कर सकता है कि वह साहित्यकार को साधारण निर्बाह की चिंताओं से मुक्त कर दे संस्कारों प्रादि खाल कर उनका साहित्य के प्रकाशन वितरण प्रादि की उचित व्यवस्था कर दे। कुछ सीमित परिधि में यहो जाय परिपक्वों सम्ममनों और सभाओं द्वारा किया जा सकता है।

अब दूसरा प्रश्न यह है कि साहित्य की व्यापकता के उपादान क्या हैं ? यही भी मेरा दृष्टिकोण बही है। यदि माप मूक में यह पूछें कि किन्तु संबन्धित उपायों में हमारे साहित्य में व्यापकता का समावेश किया जा सकता है तब तो मेरा उत्तर फिर यही होगा कि इस प्रकार के संबन्धित उपाय और सामन रख के साहित्य के लिये उपादेय नहीं हो सकते व्यवहार के साहित्य के लिये उनकी उपायमता अवश्य है। हाँ इस प्रश्न का दूसरी तरह से किया जा सकता है एव उपादान कौन हैं जिनके द्वारा साहित्य में व्यापकता प्राप्ती है अर्थात् व्यापक साहित्य के उपादान-तत्व क्या हैं ? हमारे साहित्य में ये किन मात्रा में वर्तमान हैं, उनका विकास कहां तक और किन्तु प्रकार सम्मम है ? इसका उत्तर देने का प्रयत्न किया जा सकता है। साहित्य की व्यापकता का अर्थ है उनका क्षेत्र की व्यापकता और उनका प्रभाव की व्यापकता। और इन दोनों के लिये सब से पहली आवश्यकता है साहित्यकार की चेतना की व्यापकता। चेतना की व्यापकता वास्तव में साहित्य की व्यापकता का मूल उपादान-तत्व है। चेतना की व्यापकता का सर्व-प्रमुख उपादान है अनुभूति की व्यापकता—जिस साहित्यकार का भाव जबत किना विलुप्त अन्तक-रूप तथा समृद्ध होना उनका ही व्यापक उनका साहित्य का क्षेत्र होगा। जिस व्यक्ति या साहित्यकार का जीवन के विपिन पक्षों का अनुभव हाँ जिम्मे जीवन का गहर में जाकर भोगा और गहा हाँ उसी का भाव जबत विलुप्त और समृद्ध होगा है। व्यापक अनुभूति का एक प्रमाण यह है कि उनमें परस्पर विरोधी पक्षों का भी ग्रहण करने की क्षमता हुमी है उनका एक की परिधि में अनुकूल प्रतिकूल स्व-पर, मन्-पर, मन्-पर, मन्-पर मन्-पर और विराट-कीमत मानी के लिये प्रवकाय रहता है। यही नहीं उसकी अनुभूति का क्षेत्र में परस्पर विरोधी तब पुन

मिल कर एक हो जाते हैं। वास्तव में यह समन्वय बताना की सबसे बड़ी विधि है। व्यापक साहित्य का मूल उपादान यही है। इसी को दृष्टि में रखते हुए संस्कृत के प्राचार्य न महाकाव्य के लिये माना रमों से विभूषित होना आवश्यक माना है। विदेश के मध्यायी घालोचक लिखते हैं न ट्रेवडी—दुःखान्त कथा—को इसी लिये काव्य का सर्व-भाष्य रूप माना है। उन्होंने काव्य का उद्देश्य माना है मनोवृत्तियों का समीकरण—और अन्तवृत्तियों में विद्यमान ही अधिक विरोध होना उनका समीकरण अन्त ही सफल और पूर्ण होता। दुःखान्त कथा में कथा और मय का सामंजस्य है—कथा आरूपक वृत्ति है और मय विकरक अथवा ये दोनों अत्यंत विरोधी वृत्तियाँ हैं और इनका सामंजस्य स्वभावतः ही रचयिता की सबसे बड़ी विधि है। इस प्रकार अनुभूति की व्यापकता साहित्य को व्यापकता का सबसे महत्वपूर्ण उपकरण सिद्ध होता है। प्रभाव की दृष्टि से तो इस उपकरण का महत्व और भी अधिक है। साहित्य मूलतः हृदय का व्यापार है और इसका माध्यम स्पष्ट अनुभूति है। मानव मानव के हृदय में रोम-कास की सीमा का प्रतिबन्ध करता हुआ जो एक तार अनुस्यूत है वह ही रज। यह वह तार है जो हजारों बयों और मीलों के धार-धार धाव भी वास्वीकि या होमर और हमारे हृदय के बीच एक नाव अंकुश हो उठता है। रागात्मक जीवन के परातल पर मानव जीवन के सभी स्तूप भौतिक भय मिट जाते हैं। यह गुण सामयिक परातल है और सादर साहित्य का महत्व परातल यही है। इसी स्वीकृति विरक्त मानव-मूर्त्या की स्वीकृति है। भौतिक मूर्त्या की कठोरता साहित्य की कोमल धारणा को मद्ध नहीं बौद्धिक मूर्त्या की भेद-वृत्ति साहित्य की अखंड समझी धारणा को प्रिय नहीं। मानव अपने अन्तरगत रूप में जो है वही साहित्य का विषय है—वहाँ वह न नीतिवादी है और न बुद्धिवादी वहाँ वह गणारमा है और उसी न साहित्य का नीचा सम्बन्ध है। भारतीय प्राचार्य न साधारणीकरण के मिथ्या ज्ञान की परम मय की घोषणा की है। साहित्य के अर्थ उपादान है कल्पना विचार, और अविष्कृति भी। परन्तु ये तोना अनुभूति न रचन सम्बन्ध है। कल्पना और विचार-क्षेत्र की व्यापकता व्यापक अनुभूति का प्रायः महत्व परिमाण ही होती है। जिसका अनुभव-धेन व्यापक है उसमें कल्पना भी निश्चय ही व्यापक होती और उसका विचारों में भी व्यापकता होगी। इसी प्रकार अविष्कृति भी पूर्णतः अनुभूति के अविष्कृत है। इन सभी के इस अन्वयाधय सम्बन्ध के कारण ही अन्त न वाप्य का रूप नक उपादान माना है और वह है महाकामुभूति जिसमें अज्ञान अनुभूति कल्पना विचार और अविष्कृति सभी का समावेश कर दिया है।

इस प्रकार मरे मन्तव्य का शार यह है कि साहित्य की व्यापकता का मूल धोर एकमात्र उपादान चेतना की व्यापकता है। हिंदी साहित्य में अब तक जो व्यापकता है उसका कारण समस्त साहित्यकारों की चेतना का सही विस्तार है। प्रथम के साहित्य की व्यापकता के सिद्ध उनकी चेतना की व्यापकता ही उत्तर दायी है जो जाति धोर धर्म-भावना में ऊपर की जिसमें ममत्ता उत्तर भारत की जब चेतना प्रसृत हो गई थी। अब स्वतन्त्रता के बाद भारत के जीवन में व्यापक परिवर्तन हुआ है। भारत की राष्ट्र नाया हल के बाद हिन्दी का प्रभाव धर्म व्यापक हाठा जा रहा है। वह अब उत्तर-पश्चिम भारत की भाषा न रह कर सम्पूर्ण भारत की भाषा स्वीकृत हो गई है धोर धीरे-धीरे समस्त प्रयाग बढ़ता जा रहा है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि हिन्दी भाषा धोर साहित्य का स्वल्प व्यापक हाबा। जब बंगला गुजराती मराठी धोर दक्षिण की समुद्र भाषाओं के साहित्यकार इस भाषा को बाम धोर सिन्धु में तो उनकी अभिव्यंजनाएँ, उनके मुहाबरे धोर बहाने उनकी रचना-भविष्य निर्णय ही इसमें आयेंगी धोर इसका रूप धर्मिक व्यापक धोर मशीना होना चाणगा। साहित्य की व्यापकता भी धर्मिक है। हिन्दी साहित्यकार समस्त एक प्रयत्न का मापरिक न रह कर भारत का सामरिक धर्म रहा है उनका पाठक-समाज बृहत्तर हुआ जा रहा है जिसमें माना प्रकार की धर्मिक धोर मस्वारा के नर मारियों का समावेश हो रहा है। इन सब कारणों में उनकी धर्मिक चेतना का विस्तार होना धर्मिक है। अब यह प्रयाग या सिन्धी उत्तर प्रदेश या बिहार के परात्म पर नहीं भारतीय परात्म पर भावन करना अब स्वभावतः यह भारतीय साहित्य की ही कृति करेगा जिसका स्वात्मक प्रभाव बड़ी धर्मिक व्यापक हुआ। उसमें बंगला की भाषाज्य कला मराठी की हृदय गुजराती की व्यापकता धर्मिक भाषाओं की मस्वारिता धोर उन्नी की चट्टन धोर धर्मिक हिन्दी की समन्वयगीमता में अब एक एक-एक हो आयेंगी। इस दिशा में भी हमारा संवर्धन प्रयत्न धर्मिक धनुष्म परिस्थिति में उत्पन्न कर सतता है। उदाहरण के लिए भारत की समुद्र भाषाओं के प्राचीन-नवीन धर्मिक धनुष्म की धर्मिकता इन दिशा में एक मन्तव्यपूर्ण धर्मिक हाका। उनके धर्मिक धोर धर्मिक में हिन्दी के साहित्यकार का धर्मिक निपुणता (Culture) का विकास करने में सहायता मिलेगी। उनकी चेतना की समुद्र में भी इस धर्मिक साहित्य का बड़ा योग हुआ। इनका उपयोग प्रयत्न हो सकता है धर्मिक साहित्यिक धर्मिक-धर्मिकों को स्फुरता। उनके उद्योग हिन्दी का साहित्यकार भारतीय साहित्यिकों के साथ प्रत्यक्ष धर्मिक में या सतता। प्रत्यक्ष धर्मिक का धर्मिक विचार मान है—धर्मिक का

जीवित संस्पर्श वेतना का स्फूर्ति प्रदान करता है। तीसरा एक घोर भी घायल-जन हो सकता है और वह कदाचित् मजिद उपयोगी हो सके। हिंदी के माध्यम से भारत के विन्न-विन्न चाहित्वों की भूल प्रकृतियों का विस्लेषण कर समान तत्वों का संयोजन किया जाए। इससे एक तो भारतीय साहित्य की एक समन्वित रूपरेखा प्रस्तुत की जा सकेगी दूसरे हिन्दी और हिन्दी की भाँति दूसरी भाषाभाषा के साहित्यकारों को स्वायत्त भरावध पर मानन करने में भी सहमता मिलेगी। इसी प्रकार के घोर भी प्रयत्न सम्भव है। इनमें साहित्यकार की वेतना के उक्त घन की भीवृद्धि में सहायता मिलती है जिते शास्त्र में 'निपुणता' कहा गया है—क्याकि 'निपुणता' ही एक ऐसा गुण है जो बहुत-कुछ यत्न-माध्य है। परन्तु यत्न में मैं फिर निवेदन करता हूँ कि ये प्रयत्न केवल परिस्थिति मात्र ही रह सकते हैं—प्ररणा नहीं। प्ररणा या दिया-निर्दोषन की दृष्टि से इनका योग इतना भी नहीं जितना कि यातायात की मतिविधि का नियन्त्रण करन में बीटाई पर अडे पुमिष के सिपाहो का।



तेरह

मेरा व्यवसाय और साहित्य-सृजन

मुझ जैसे लेखक का जिसमें राजकीय सेवा के घनेक प्रभावनों का छाड़ माघह प्रम्पापकीय वृत्ति प्रकृष्ट की है। इस विषय में दृष्टिकोण सर्वथा स्पष्ट है। छात्र में सधमय छात्र बनें पूर्व धाकापबापी में निपुक्ति के समय उग्मवस मविष्य का धाकर्यव हात हुए भी मेरा मन एक विविध संका में उडिम्न हा उटा बा साहित्यिक कार्य बहाँ कैसे निभगा ? एम ए० पास करन के उपरान्त अपनी अधिपन धक्ति के धनुवार सीमित परिधि के भीतर जिन साहित्य की धापना में इतने मनोयोग तथा प्रम्यवसाय के साथ कर रहा था—जिसमें समर्थ राष्ट्र मापा की सेवा बाहू हुई हो या न हुई हा। पर धारम-कस्याण धरस्य हुआ था—उसका माह मुझे धापिक प्रलोभनों की धपला कम नहीं था। परन्तु जिन मुज-बाहूक अधिकाारी ने धाप्रहवूक मरी मनी धतों का क्मय स्वीकार करते हुए मुझे धपने कृपा-भाष से साधार कर दिया था उम्होंने मुझे यह बाधबाधन भी दिया कि यहाँ तुम्हारी साहित्य-धापना में कोई बाधा न पडपी में तो इमको प्रोत्साहित करता हूँ। इस धारबासन का धवलसन्ध सेकर में राज कीय सेवा में प्रविष्ट हुआ। धाकापबापी का बातावरण अधिक धननुस नहीं था। मुझ जो काम सीगा गया वह धसाहित्यिक नहीं था वह भी राष्ट्रीय महत्व का रचनात्मक कार्य था। परन्तु रचनात्मक साहित्य धौर नृजनारमक साहित्य में धंतर है—रचना धपवा निर्माण एक याचना-बड वृद्धि-सम्मत प्रक्रिया है जिसके पीछे बहिनु प्री वृत्ति की प्ररभा रहता है। नृजन धारम-माधाररार के धगों की धनिवार्य प्रक्रिया है जिसमें वृत्ति धनमु धी हो जाती है। निर्माण का मरय है कस्याण, नृजन का मरय है धानन्ध। धाप इत धाप मानिये या गुण मरी धन मु धी प्रवृत्ति धानन्ध में बडकर धारम-कस्याण धपवा मोरु-कस्याण की कस्याण करने में धनमर्थ है। धीमे धपन नये जीवन-कम में राष्ट्र-नवा धपवा मोरु-नवा के महदनुष्यन में कपू समय बचाकर धीने त्रैतिक सफल के साथ साहित्य-धापना धारम्य कर धी को धौर धरस्वती सबधा मूक मरी हुई को फिर भी मुझ जमा प्रतीत होने मया कि वस्वरी तिङ्गे में मरी धननु धिया क्यती जा रहा है धीर नीरु गर पका हुआ जीवन धनी था जैन बनता जा रहा है। तस्व-रटि ध

मय कायिल्य वा रेडिया की भाषा का निर्माण—यह काम घने ज्ञान में बहुत बड़ा का घोर में पहले दो-तीन वर्षों तक घपनी सम्पूर्ण चिन्तित तथा शीघ्रित साधनों के साथ उर्ध्व-निष्ठ हिन्दुस्तानी को हिन्दी-रूप देने में जुटा रहा। यह भी एक विशिष्ट अनुभव का उत्पत्ती घनेक स्मृतियाँ घरे मन में घाय घुरघुर उतपन्न कर देती हैं रेडिया की भाषा का यह बड़ा-मूत्र सर्वाधिक मुदापता (Maximum intelligibility) जिसमें शब्द की अन्विषा-शक्ति निःशेष हा चुकी थी—घोर मुत्र स्पञ्जना मात्र रूढ़ मई की सभी घपन महानुभूत जिसका घर्ष कर सकते थे उम समय घरे लिए इष्टकृत स भी घषिक वा। कथ समय तक इसकी उत्तमता रूढ़ी परन्तु घीरे-घीरे यह भी समाप्त हा मई, घोर घप रूढ़ गया घनुबाह-कार्य का निरीक्षण। यह घनुबाह घण्ड-घण्ड हाकर घरे सामने घाता वा। मजिमेंडम के घरस्वों घोर विघपकर प्रचान मई घारि के घञनीतिक भाषालाघि होने पर समाचार कक्ष में एक घञज इनपन क्या भगवद्-सी मष जाती थी इबठाघा को भी आकष्यवागी के स्वग-घण्ड म उतर कर स्टूडिया के पाठाल-मण्ड में घाना पड़ता वा। उम समय कानी पक्षियों म अंकित घण्डे कायक की घे अजिघ्याँ कचुल-अष्टित नवों के ममान फुकारत समती थी। इसके बाद घे सोचता—घाशिर इस स्नावरी उत्तमता म क्या मात्र ? घेने काय्य-वास्तव में पड़ा वा कि घामना-कम स्थायी मात्र की घरम उत्तमता ही रस है। परन्तु भाग विरघाम शीघ्रिए यह उत्तमता रन नहीं थी—भरत घे मिकर घाचार्य रामचन्द्र मुकम तक इबठा रस्नेय कहीं नहीं घा। राग को कभी-कभी इस शोड-भूत के मपन वा घाते घे—घोर अत्यन्त दुःख हाकर घे बलता कि महाजन ने घनुबाव ता छीक क्रिया वा पर स्टड-बाई म कम-मक्या ममान में भूम हा मई घोर देवकीमन्दन पाडे की स्टीन बाघारा में उम महूरकूप कछय्य का यह घाटा-मा टुकड़ा तिनके के ममान घेने ही बहता बला घया। मुस्तिर हाकर घे रमकी-दुमिघ्न घे उम पर प्रस्यध स्थिति का म्यान करला जहाँ बल्लु, मन्वय्य घोर कम्पनी का ज्ञान नट हा जाता हे और माघना कि भूमा में यह पौडा-मा सक्या-म्यति कम क्या घर्ष रगता हे ? मेरा इमरा कर्मय्य रम वा घेरेडी के पारिभाषिक लब्ध के शिरी पर्यस्य कलाया। एक दिन 'टीविल घारस, पत्रक में आ घया। एक बुजुर्ग न माघ घना करत पर भा बड़ा जार मया कर उमम भी घनुबाह कर हाया 'मोटा घमिज तन'। बाद में शिरी म बहा कि यह तन न मोटा हाता है और न घमिज। जिस को बड़ी म्यानि हुई घोर प्रगाद जी के पाणस्य के घ घार वरी घा संजा घे हू जन जत "अ बाघ्यत है—घानर-मभुत्र में घानि-घी

का प्रतिबन्धात्तु शास्त्रम्—यत्र सूर्यं नभश्च मरे शेष ये प्रकृत्य प्रामाण्य विधान
 वा मस्य-स्वामसा कामसा विरवम्भरा मरी गैया बी । बीडिक विनोद कम पा
 मस्ताय बन वा । उन धपनी शास्त्रण की जगम-भूमि को छाड़कर कहीं भा गया ।
 मेने मकम्प किया भगवान की कृपा मे अनुकूल धवसर प्राप्त हुआ धाकाधवागी
 क धनक धधिकारियों न निरक्षण मन म धापह किया कुछ बड़ प्रमाभन भी
 मामन धाये बाहर भी हितैपियान इन माबुफता क विर्य्य पनाबता ही
 फ़िन्तु मेन एक बार जा रम्मा तुबामा गो पाछ मुड़ कर नहीं रला धौर भीपे
 विस्वविद्यालय में धाकर छाँस सी ।

विरवविद्यालय के मुक्त बातावरण में धाकर मेरा मन स्वस्थ हो गया ।
 पहला धापक 'साहित्य की परिभाषा धौर स्वकण' धौर दूसरा 'कामायनी' पर
 हुआ । मुझे समा कि भववनी सरस्वती की प्रेरणा न एक दिन ही में जैम 'मापे
 धनित्र तम' धौर 'उत्साधनिक धाव' की उस दुनिया म कामायनी क इस
 'धानम्भ-साक' में धा गया हूँ धानम्भधधन कुन्तक मुक्त धौर प्रमाव की स्वर्गिक
 प्रतिभाधा मे धामीर्बाधमयी प्रेरणा ही प्रमाना छाव-ध्याधायों की विदधन विज्ञाना
 मे धभिनम्भन किया मेर मन पर समय हुई रफ्तारी मधान का बह कासाध धान
 धान ही बह गई ।

व्यवसाय धौर साहित्य-सृजन का परस्पर क्या सम्बन्ध है पहले बाड़ा
 विधार इस सम्बन्ध में कर मेना धयार्थगिक न होया । मध्य-युग में उन्नीमर्षी
 धनाम्षी क मध्य तक यह प्रकृत हो प्राय नहीं उठता था । कवि का करन एक
 व्यवसाय था काव्य-रचना उमी क द्वारा किमी राजा या धामन का धाधय
 वा कर कृति की समस्या हन हा जाती थी । व्यवसाय को दृष्टि म कवियों क
 रीति राम में दो मुद्रन बध धिलठे हैं—राजा-कवि धौर राजाधिन कवि । धवर्ति
 कविता या तो राजा कर सज्जा था या ऐमा ध्यक्ति कर मज्जा था तिमका
 धाजोरिका का साविस्व किमी राजा ने मे लिया हा । कहन का सात्य यह है
 कि मध्य-युग क हिन्दी-साहित्यकार का व्यवसाय धौर साहित्य-कर्म पृथक नहीं
 थे—साहित्यकार वा कवि ही हुमा था वा तो संत वा भक्त था वा धीमम्भ
 था वा राजाधिन । इस प्रकार साहित्य वा काव्य-सृजन क धनिरिक्त उमका
 धम्य बाई व्यवसाय नहीं था । धाधुनिक युग में साहित्य क द्वारा जोबिका की
 मिडि प्राय सम्भर न हा मकी बहुत ही कम वास्तविक साहित्यकार मन
 धीमाध्यसाधी हुन हें, धन उन्ध जोबिका क लिा किमी व्यवसाय वा धाधय
 धना पड़ा । इस दय में धधे-व्यवस्था भी बड़ी धस्तव्यवत-सी रही है धनाध
 साहित्यकार वा बड़ विविध-धिविध व्यवसाय वा धरण मेनी पड़ी है गिनमा

की मोकरी रूढ़ियों की लौकरी तक तो ठीक है, परन्तु उस बेचारे को राजनीतिक उबाड़-गधाड़ बकसत रूढ़िस्ट्रापी क्लर्की सुन्नी की दुकान धारि म जाने क्या क्या करना पड़ा। किन्तु इन व्यवसायों का भी साहित्य-मूजन से अप्रत्यक्ष सम्बन्ध है। साहित्य इनकी घरख-भूमि है जहाँ घाकर वे साहित्यकार अपने व्यवसाय की क्लान्ति मिटाते हैं। विज्ञान साधी है कि भावनात्मक प्रभाव प्रभावनात्मक प्रभाव से कम प्रबल नहीं होता, यद्यपि इनकी भी मूजन-प्ररवा किसी प्रकार कम बसवती नहीं है।

मरा व्यवसाय इस दृष्टि से अधिक सीमात्मक है। अध्यापन का विद्यपकर उच्च स्तर के अध्यापन का साहित्य के अन्य पंजा के मूजन में सहज सम्बन्ध में हो परन्तु धातोचना से उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। वैसे अध्यापक का व्यवसाय साहित्य के प्रायः सभी रूपों के मूजन में अनुकूल पड़ सकता है क्योंकि उसमें सभी प्रकार की अनुकूल परिस्थितियाँ विद्यमान हैं। सांठिमय बातावरण प्रभावनात्मक संघर्ष तथा स्नायवी उत्तमता का प्रभाव महान प्रतिभाओं के साथ अध्यापिक सम्पर्क कम से कम बाकी द्वारा धारणाभिष्पन्ति—ये सभी परिस्थितियाँ मूजन के लिए अनुकूल हैं। फिर भी कुछ साहित्य-रूप ऐसे हैं जो कदाचित् अधिक अनुभव-विस्तार तथा महर पीवन-मंजन की धपछा करते हैं—उदाहरण के लिए उपन्यास या नाटक के लिए अध्यापक-जीवन की तांति और सीमित परिधि अधिक उपयोवी नहीं है। और इसका एक स्तून प्रमाण यह है कि देश-विदेश का कोई बिरसा ही उपन्यासकार अध्यापक रहा हा। किन्तु धातोचना के विषय में यह संका नहीं हा मकनी—धातोचना और अध्यापन का अपपम हाता है। और सम्बन्ध है उच्च स्तर के अध्यापन से ता धातोचना का पोपम हाता है। और इसका भी एक प्रमाण यह है कि रम-विरण के अधिजनता धातोचक अध्यापक हैं, रू हैं, या बन गये हैं। यह स्वानाधिक ही है। धातोचक के मूमत कर्तव्य कर्म हैं (१) रम ग्रहण करना (२) मूहीत रम का धपन प्याष्यान-विरपन के द्वारा सभी सहूरवों के लिए सुसभ करना या उनमें सहायता बना (३) इसके धामे सद्-भसत् का निलय कर जिजामु-ममात्र का माप-रगन करना, और धन में (४) साहित्य की वनिबिध का धप्रत्यक्ष रूप में नियन्त्रण तथा संवातन करना। इनमें से पहले बा अधिक सहज एवं मूलपत है क्योंकि अध्यापक का पूर्ण धातोचन ता प्रापमिक धावस्यकृता है और बहु धान धान में निजि भी है। यदि प्रमाता उतने ही पर रक जाए तब भी उसे सकल-कम मान पना चाहिए। रसास्वादन धवना मनेध अनुमूनि का ममध ग्रहण बाध्य की मरम ककन धाम-कना है तथा प्रमाता बिना कुछ निधे भी बाध्य वा मूक धातोचक हाता है।

सत्-आलोचना का पहला सोपान यही मूक घालाचना है। प्रध्यापक के लिए यह सहाय सुभम है। खेप्ट काव्यों का अध्ययन—महान प्रतिभाओं के साथ मानसिक साहचर्य उसका नैसर्गिक कर्म है। अन्य व्यवसाय के साहित्यकार को जहाँ इसके लिए भी समय निकालना पड़ेगा वहाँ प्रध्यापक का ता व्यवसाय ही यही है। दूसरा सोपान है इस आस्वाह को सहृदयों के लिए सुभम करना। प्रध्यापक वृत्तित व्याख्याता और विवेचक होता है। उन्ही धनी के विद्यार्थी और अनु-सन्धाता को काव्य का मम समझना उसका व्यावसायिक कर्तव्य-कर्म है। लेखक का अपने पाठक के साथ सम्बन्ध जहाँ परोक्ष होता है वहाँ प्रध्यापक का प्रत्यक्ष होता है। काव्य का एक मूल उद्देश्य है सम्प्रति करना—सफल प्रध्यापक का भी यही पहला गुण है। काव्य के संवेद्य-सार का काव्य से छीन कर अपनी धारणा में भर देना और फिर उसे अपनी धारणा के रस में पाग कर बहुगुणीय छात्र-जगत् की धारणा में भर कर उसकी अन्तर्चेतना को स्पृष्ट कर देना प्रध्यापक की विधि है और मरु विश्वास है कि घालाचक भी इससे बड़ी चिन्ती विधि को कामना नहीं कर सकता। कामायनी धारि की क्लाम सेन के बाद मेरे मन में प्रायः यह घाता है कि प्रध्यापक भी साधारणीकरण का एक समय साधन है। प्रध्यापक के इस रूप का निरूपण ही आलोचक के साथ परिच्छिन्न धारणीय सम्बन्ध है। आलोचक के कर्तव्य-कर्म की शरम परिचयि यही है। इसके धारणे सत्-असत् का निर्णय भी उसका धर्म है। स्वतः निरुपम और छात्र-जगत् की निमग्न-वृत्ति का विद्यस्य प्रध्यापक के धर्म की परिधि में भी घात है। साहित्य का प्रसाहित्य से भेद करना और करुणा सफल प्रध्यापक का भी उतना ही धारण्यक कर्तव्य है जितना आलोचक का। अपनी सीमित परिधि में प्रध्यापक भी काव्य-विज्ञानमूर्तों की रक्षि का संस्कार तथा निर्माण कर आलोचना को पूर वीठिका तैयार करता है। अंत में साहित्य की वृत्ति-विधि का निरूपण तथा संचालन आलोचक का उच्चतम मध्य माना गया है। इस विषय में मरु निश्चरन यह है कि प्रध्यापक का न कोई-कोई प्रत्यन्त समर्थ घालाचक ही एसा कर सकता है जामा स्यत यह सम्भव नहीं होता और साहित्य के लिए यह शुभ मक्षण भी नहीं है। साहित्य की वृत्ति-विधि का संचालन मरु कलाकार की अरभ्य प्रतिभा ज्ञाप ही सम्भव है। घालाचक उसका धारण्य कर उनका काव्य-शौन्दर्य का सुभन कर, उनका संवेद्य का साधारणीकरण का योग करर साक-मरु या काव्य की धारणा कमी में मरुदय-मरु जवाता है। इनका अधिका वा यह घालाचक के लिए उचित नहीं है। प्रध्यापक भी अपनी धारणी-नी परिधि में टनना चाहा कर सकता है। मेरे अन्तः साहित्यिकों को यह बहूत गुता है कि धार प्रध्यापक मरु

निसको बड़ा दे बड़ी महाकवि है। उसकी यह चिकित्सा प्रध्यापक के महत्व की प्रशंसा स्वीकृति है। इस प्रकार प्रध्यापक अपने क्षेत्र में मातोषर के कर्तव्य का निर्वाह करता है।

यह तो हुआ उज्ज्वल मन्त्र। साहित्य-सूत्र के लिए प्रध्यापक-वृत्ति की कुछ बाधाएँ भी हैं। प्रध्यापक के लिए एक बड़ा खतरा यह है कि कहीं वह विद्वान्त की बात करते-करते साम्प्रदायिक-जड़ न बन जाये। साहित्य-सूत्र की सबसे बड़ी शान्ता है यह : यह जैसे उसकी शास्त्र-वृत्तियों को कुच्छिन्न कर सूत्र-वृत्ति का नाश कर देती है। प्रध्यापक विद्वान्त के कटि-बाण में जकड़ जाता है। उसका व्याख्यान-विश्लेषण अपनी स्फूर्ति को बैठता है। ऐसे प्रध्यापक को एक प्रकार के धर्म रत्न के प्रति रुचि हा जाती है और वह शास्त्र के माध्यम से काम्य का मनन करता हुआ उसके वास्तविक रत्न से अपने को वंचित कर लेता है। ऐसे प्रध्यापक की मातोषरता स्वभावतः ही धर्म-मातोषरता होती। एक वृक्ष पर बड़ा खतरा परीक्षा का है। कोई भी ईमानदार प्रध्यापक परीक्षा की एकान्त अवस्था नहीं कर सकता, ऐसा करना अपने व्यवसाय के प्रति बेईमानी होगी। परीक्षा साहित्य-विद्या का निकृष्टतम किन्तु व्यावसायिक दृष्टि से अनिवार्य प्रबंध है। प्राज्ञ की विद्या-व्यवस्था में उसका महत्व सर्वाधिक है—इसमें लक्ष्य नहीं। इसलिए कोई भी प्रध्यापक परीक्षा से संबंध पराङ्मुख होने का इत्तन नहीं कर सकता। उसका विद्यार्थी ऐसा करने की नहीं देगा। प्रध्यापक-मातोषर को चाहिए कि साहित्य-सूत्र और अपने व्यवसाय के इस संघर्ष में किसी प्रकार की मैत्री न होने दे, अन्यथा मातोषरता में 'मुल-बोच' को सम्भाल लेनी। इस व्यवसाय का यह खतरा भी बहुत बड़ा है। तीसरा खतरा है विद्यार्थ-वृत्ति का विकास। काम्य के शास्त्र-रत्न के लिए कवि और काव्य के प्रति भ्रष्ट-भाव घनिष्ठता है। कवि क समस्त प्रजाता को विद्यार्थी-रूप में ज्ञान चाहिए। विद्यार्थियों को पुराने पुराने प्रध्यापक का यह दृष्टिकोण कुच्छिन्न हो जाता है। वह कवि के सामने भी विद्यार्थ के रूप में जाता है। प्रध्यापक की यह खतरा विकृतता है और प्रध्यापक-वृत्ति इन दृष्टिकोण को बुरासाहित्य कर मातोषरता के सूत्र में बाधक होगी है। प्रध्यापक-मातोषर को इन बाधाओं के प्रति प्रध्यापक सर्वप्रथम खतरा चाहिए—उसे मातित्य का यह खतरा पूरा-अन्त के सुखान मरा याद रखना चाहिए कि —

इसके को दिल में दे जगह मातित्य ।

इससे से घाबरी नहीं घातो ॥

धोवह

धीवी एक सस्मरण

[स्वर्गीया बहिन होमवती देवी]

१ करवरी को मेरठ से तार घाबा होमवती जी की स्थिति प्रसाम्य हो गयी है और कई मित्रों के साथ मुझे भी बुलाया है। बीबी का स्वास्थ्य काफी दिनों से मरुत का पर प्रसाम्य स्थिति को कल्पना मैंने नहीं की थी। पिछले दो-एक वर्ष से उनकी वातपीठ और पत्र घाबि में इस दुर्बटना का बार बार प्रामाण मिलता था पर मन धनिष्ट की प्रमिय कल्पना से सदा बचने का प्रयत्न किया करता है और मैंने कभी इस प्रकार को बढमूस नहीं होने दिया। पर धनिष्ट हो ही गया। २ और ३ के बीच की रात को बीबी इस संसार में बसी गई और हम सोय उनका घब उठ जाने के समय १२ २० मिनट बाद पलंगुटी पहुँचे। बीबी के बिना पलंगुटी की कल्पना मेरे लिये सम्भव नहीं थी। उनका बहु कमरा जहाँ जीवन की वे पलंग साबिका सोती-बैठती थी उनका पूजा-गृह जहाँ वे तल्लीन होकर भगवान् इच्छ की मूर्ति और उनके पास रखे हुए डाक्टर साहब क चित्र की एक मास में प्रारणना किया करती थी उनका बहु रनोईपर जहाँ वे साक्षात् धन्यपूर्णा के मद्दम स्वयं बैठकर अपने बन्धु-बाग्यधों के लिये रनोई का प्रबन्ध करती थी उनका बहु बड़ा कमरा जो अपने महारूप में साहित्यिक पोष्टियों का प्रायोजन-स्वाग रह चुका था अपनी जैसे उनके व्यष्टित्व से प्रापूर्ण थे। मे पर क भीतर जान-बुझ कर नहीं गया जा ही नहीं सकता था। बीबी को क्या कभी सझ था कि मैं प्राकर थोड़ी देर भी बाहर सड़ा रहूँ। बीबी तुरंत ही बाहर प्राकर मुझे पन्तर बुला ले जाती थी—क्यों परदेगी की तरह यहीं सजे रहोगे ? तुम्हारे स्वागत क लिये भी बाहर जाना पड़ेगा ? प्रात्र बीबी नहीं जाई। प्रात्र से मुझ में ताराज हा गई थी। मैं क्रिन्ती देर में पहुँचा था। पन्द्रह-बीस मिनट का पन्तर ! यह पन्द्रह बीस मिनट का पन्तर एक संगार और दूमरे संगार के बीच का पन्तर था ! वेध जीवन क प्रजाय और मृत्यु के संवहार के बीच का दुनय्य संतर था ! वेध मन एक पोर दिपाय मे भर गया। मैं जानने समय बीबी क करवा का स्वर्ग -

न कर पाया। क्या ने मुझे धमा कर देंगी? इसी स्वाभि को लेकर मैं दिल्ली भौट
 पाया। एक-एक करके घनेक स्निग्ध-बगबि मेरे मन की मौलों के घाये घूम घबे।
 मैंने बीबी को घाब से १२-१३ वर्ष पूर्व मेरठ के एक कवि सम्मेलन में
 देखा था—दशा भी घायब घण्डी तरह नहीं था। उनको एक कविता माई
 कुष्मन्धर ने पढ़कर सुनाई थी। उस समय मैंने महिमा-रस को घोर वृष्टि वाली
 भी परम्पु उस समय मेरे मन में एक कवयित्री के स्वरूप की जो पारखा की
 उसके अनुकूल उन महिमाघों में कोई नहीं था। इसके उपरोक्त दूसरी बार मेरठ
 को ही कवि-मोठी में उनसे साक्षात्कार हुआ मे कालिज से तमी बाहर
 प्राया था और दिल्ली में प्राकर घण्पापक हुआ था। घरेजी की रोमाण्टिक
 कविता और हिन्दी के छायाबाद के रंग में रैता हुआ था। प्रत्येक कवि के
 व्यक्तित्व का भी मेरे मन में एक प्रत्यक्ष कल्पनामय चित्र था कवयित्री की तो
 बात ही क्या थी। बीबी में बीसा कुछ नहीं था पश्चिमी उत्तर प्रदेश की
 परवृहस्प हिन्दू महिमा-मूर्ति एकलत गार्हस्तिक—जिस प्रकार की महिमा-
 मूर्तियों से मैं घटरीनी (अपनी जन्म-भूमि) में अपने परिवार में बाल्यकाल से
 ही परिचित था। घर्बाई मेरे मन क कल्पित कवि या कवयित्री के बाह्य प्रतंकार
 का घरीर, बेधभूपा रूत-सहन बासबास घादि का बीबी में सबबा घभाव
 था। यहरे रंग का साधारण बिचाला घरीर, नियमित रूप से घिर पर से घाड़ी
 हुई मामूली सखेद भोती घौर उसके ऊपर उत्तर प्रदेश की सबसुँ स्थियों की
 बस्त्र-भूपा का अविबाय घंघ बाबर, उज्ज्वल ललाट घौर उसके नीचे चिर-ममल
 से स्निग्ध घाँघें कुछ न जिहू एक चिरलतन कबघाईं स्मोठि प्रदान कर
 की थी घौर उभर जीवन का व्यावहारिक सपर्यं जिनमें एक सकल्पमय स्थिरता
 छाड़ गया था—यहू है सधन में बीबी का चित्र जा मेरे मन पर घाब भी बैठा
 ही यहरा घकित है जैसा कि पहली भेंट के दिन था। हम चित्र में कुछ ऐसी
 स्थिरता थी जो प्रापु घौर स्वास्थ्य क परिवर्तन को बुनोती रती हुई सबा एक-
 रम रही घौर जीवन पयन्त रहेगी।

बीबी क नाब मैं लगातार कपडी बिना तक कभी नहीं रहा परम्पु हमारो
 समय में बिस्तार न हा कर, पनता को। मैं २१ दिन जितन समय भी मेरठ
 रहता पूरे समय उही क पास रहता घौर कहा नहीं जाता था। यदि निनी
 कायबदा जाता भी तो बीबी का घण्छा नहीं सबता था घौर क कहनी घूम
 न जाने किम घबकर ने घूम रहे हा नैवा बीबी क पाम ता नाम करने घाये
 हा। दो-तक बार क हम उपाकमन का परिपाम यह हुआ कि मैं जब उनक
 पाम जाता था तो घौर मनी नाम-नाब बिना भेंटी न कुछ हाकर हा जाता

था। इस एकाप दिन में बीबी को घर-बाहर की प्रत्येक बातों की तफसील बनी होती थी प्रत्येक उपवेश ग्रहण करने होते थे एकाप बार मर्त्यना की भी मौनता या जाती थी। इन बातों में बीबी का वृत्तिकोण इतना हार्थिक धीर उन्मुक्त रहता था कि प्रयत्न करने पर भी कुछ धिमाने की सम्भावना नहीं थी। उस तरह दुराब-द्विराब का इतना पूरा त्याग था कि मरी तरह स भी किसी प्रकार के दुराब-द्विराब की धारस्मयता नहीं रह जाती थी। इस बातचीत का कोई क्रम नहीं था। इनमें पढ़ाई सिखाई साहित्य-वर्षा से लेकर मरी धीर उनकी पर-गृहस्त्री की समस्याएँ, मोकरी धीर प्राय से लेकर जीवन-दर्शन के प्रत्येक पहलू, नित्यप्रति क खान-पीने की बात से मया कर प्रतरंग मिश्रों धीर परिचितों की कड़वी-मीठी वर्षा तक न जाने क्या-क्या या जाता था। एकाप दिन रहकर जब मैं चलने मयता धीर कुछ तो पाड़ी छूट जान के डर स धीर कुछ धारत से मजबूर होकर हड़बड़ी करता तो मैं मया यह बाव्य कहा करती थी—मैं तभी तो तुम से कहूँ हूँ कि एकाप महोना मरे पास धाकर रह जाओ गुम्हारी ये धारी हड़बड़ी की भारनें ठीक हा जायेंगी। यह मुनकर फियन [भाई कृष्णचन्द्र] धीर रामचन्द्रतार जैव निनी पुन-निर्णीत तप्य का संकट करके हँस द्ये।

बीबी के चरित्र की प्रमुण विमयता स्पष्ट ही उनकी स्वरूपोत्पत्ता थी। यह एक ऐसा प्रत्येक धीर सहज गुण था कि उनक साथ एक बार का ही सम्पर्क स्पष्ट क मन पर गहरा प्रभाव छोड़ जाता था धीर कहीं बाहर भट करने वाला व्यक्ति उनम पर पर मिसल क लिये नीर पर पर मिसल वाला व्यक्ति उनके साथ एक-हा दिन रहने के लिये सातायित हो उठता था। प्रपने समकयस्क उनका स्वभाव बन गया था उनको इसक प्रमाय क लिये पाक-धपात परिचित अपरिचित का नेह नहीं करता पकता था। उनका यह महज सिद्धांत था [जिसे जहाँ तक मुझ स्मरण है, उन्होंने कभी भी वाचनिक रूप में व्यक्त नहीं किया] कि इस जीवन में जा भी मिते उसे सहज धारमीयता का मासीदार बनाना भयस्कर ही होता है। प्रत्येक उनम भेंट करने वाला कोई भी व्यक्ति सहज ही उनकी धारमीयता का परिचारी—बहुत-कुछ हड़ तक भैया बन जाता था यद्यपि उनकी प्रतिक्रियाएँ सर्वत्र ही प्रत्येक प्रबल होती थी धीर बार में प्रमुद्रम-प्रतिद्रुम धान-वचय का निणय करने में उन्हें बर नहीं मपजी थी। परन्तु उनकी पहनी प्रतिक्रिया धनिवार्य रूप ध धारमीयता की होती थी। यह विधेयता नित्यवेह ही सहज मानव-गुण पर धापूठ है धीर इसमें सन्देह नहीं कि होमवती की के ध्यवित्तक का मुताबार यही सहज मानव-गुण था।

परन्तु इसके भावे यह कहना ठीक नहीं होगा [जैसा कि श्री वात्स्यायन न सिखा है] कि उनका स्नह ध्यान सहज रूप में कुछ मानव-स्नह या भा व्यक्ति और परिवार-सम्बन्ध धारि की सोचा से मुक्त था ।

उनके स्नह में घट्यत प्रबल वैयक्तिकता थी । जिसका प्राचीनता में उन्हें विश्वास हो जाता था उनका बीबी का स्नह चारा धार ग पर होता था । उनका स्नह बृष की छाया नहीं था जिसके नीचे कुछ दर तक विधाम करके धाय धपना रास्ता में । उनकी उपमा एक पुराने हिन्दू परिवार के घर से रो या सकती है जिसमें धाय पूर्ण प्राकृत्य और ममत्त्व का उपनाम करते हुए रह और यदि बाहर जावे ता धारा लेकर जाए । उनका यह स्नह धायह स्वार्थ ईर्ष्या द्वेष धारि से सबथा मुक्त था परन्तु उनके स्नह का यह स्वभाव था कि किसी प्रकार प्रतिशान न चाहते हुए भी धपने अधिस्तर में किसी प्रकार की बाधा सहन नहीं कर सकता था । मुझे इस प्रसंग में एक घटना का स्मरण है । मरठ में साहित्य सम्मेलन के अवसर पर मैं बहो ठहरा था । मरी एक महिला मित्र ने कुछ साहित्यकार बन्धुओं को धपने पर मोजन के लिये निमन्त्रित किया था उनका धनुष्य था कि मैं भी अवश्य घाऊँ, और मरी भी हप्पा थी ही । परन्तु बीबी की धनुमति किस सी जाये ? मैंने उन महिला से कहा कि धाय ही कहिये । उन बेचारी न सानुनय बीबी से मेरे लिये धनुमति मांगी । परन्तु बीबी न तुरन्त ही उन्हें चारा जवाब दे दिया—'भा बीबी यहाँ ता ये कभी कभी एकाध दिन के लिये घाटे है इन्ह यही रहन था । और मरी धार एक कठोर दृष्टि डालत हुए कहा—'बाकी इनसे कुछ भी ये चाहते हा ता जमे जाए । धर ज्ञान का सवाल ही नहीं था । जब ये महिला जान मकी ता ये कुछ दूर तक उनके साथ गया और घट्यत शर्पास्वर में उनका धवा मापने मना । उन्होंने कहा 'यह ता कोई बात नहीं है, पर मुझे धारण्य हुआ है कि धाय यहाँ रह कैस मीत है मरा तो बस पुटन लगाता है ! मुझे ता ऐसा लगता है कि इनके साथ धपने व्यक्तित्व का साथ करके ही रहा जा सकता है ।' इस दूर तक ता नहीं पर बाध कुछ-कुछ ऐसी अवश्य थी । मैंने कहा हा इनका स्नह इतना धायहा है कि उसके साथ प्रतिवार या प्रतिरोध करके जना नहीं जा सकता । पहले तो मुझे भी यह व्यवहार बहुत धप्यता था और ये कभी व्यक्त रूप से और कभी बस ही बस निकलता था परन्तु एक विचित्र घटना ने मुझे सर्वथा निरस्त कर दिया । वह घटना इस प्रकार है हिन्दी साहित्य परिषद्, मरठ, का विद्यना अधिवेशन समाप्त हो जान पर उनका यह नये निकर्षा के प्रारम्भ की धवरापा की गई । इस अधिवेशन का व्यवस्था-भार बाबी न मरे ही धार डाल

दिया था। निदान इस संप्रह के सम्प्राप्त प्रादि का कार्य भी मुझे ही सौंपा गया। कार्य जब सनभग समाप्त हो चुका था तो किसी बात पर माई कृष्णचन्द्र और मुझ में बाड़ी गुमठफहमी हो गई। बीबी इस बीच में पड़ी पर उन्हें भी घामर बही भ्रम हुआ और उन्होंने अपने पत्र में मेरे ऊपर कुछ हल्के-से व्यस्य कस दिये। वैसे कोई बिषय बात नहीं थी पर उस प्रसंग में मुझे यह बहुत बुरा लगा क्योंकि उन्होंने और कृष्णचन्द्र दोनों ने मरा साक्ष्य मसत समझा था और वे उल्टे मुझ पर ही व्यस्य कस रहे थे। धतएव मैंने भी उसका कठोर-सा उत्तर उन्हें लिख दिया। मेरे इस निर्मम उत्तर ने बीबी के मन की बेचना को मूहरे में जाकर छू दिया और उन्होंने एक सन्धा पत्र मुझे लिखा जिसको मारिष्कता समझती थी। साहित्य और जीवन के बहुत ही कम पत्र ऐसे हैं जिनका मेरे मन पर उतना गहरा प्रभाव पड़ा है। उस पत्र ने मुझे सबथा निरस्त कर दिया और मैं बौद्धिक दृष्टि से अपने को निर्दोष मानता हुआ भी एक बिचित्र म्मानि का अनुभव करने लगा। प्रसंग में अपने पत्र का पूर्ण समर्पण करके पत्र टाँप करणस्यसं पूर्वक दामा-याचना करके ही मैं उस म्मानि से मुक्त हो सका। उस पत्रका के बाद मैं उनका प्रतिबाद नहीं करता था। साक्ष्यता दो-एक दिन तो उनके पास रहना ही होता है उसमें भी क्यों व्यस्य ही प्रतिबाद किया जाये।

यह बीबी के व्यक्तित्व का एक पथ था। हृदय-पथ के साथ उनका बिकेक-पथ भी परस्यत पुष्ट था। वे बौद्धिक नहीं थीं बतमान युव की बौद्धिकता से उन्हें पूरा थी। जीवन के किसी भी क्षण में संस्कार की प्रबलता उन्हें प्रशिय थी और प्राभुनिक बौद्धिकता में प्रायः संस्कार का निपप हो रहता है। वे परिवार में और परिवार से बाहर समाज में सबत्र मर्यादा की कायल थीं। गहरी पारित्रिक मर्यादा के प्रतिरिक्त व्यावहारिक मर्यादा के प्रति भी उन्हें उनका ही प्रापह था। सङ्कियों को सिर उठाके दसकर वे प्रायः चौम उठती थीं। प्रापस्य के प्रति वे कठोर थीं और उसकी भर्त्सना में कभी-कभी अत्यन्त निमम हो जाती थीं। इसी प्रकार प्रहसन और दम्भ उन्हें घसटा था। दम्भ के साथ उनका निर्बहि एक दिन सम्भव नहीं था। उनका साथ हादिसता के स्तर पर हो मिला जा सकता था। जीवन के तीत्र अनुभवों ने उनकी प्रतिभा को मात्र दिया था और उन्हें समझल और परखने की बिचित्र शक्ति प्राप्त हो गई थी। व्यक्ति और स्थिति को समझने में उन्हें देर नहीं लगती थी। इसीलिये क्या गृहस्य के प्रायः प्रायन में और क्या समाज के बिस्तृत क्षण में वे अद्भुत प्रात्य-बिस्वास और कुञ्जसता के साथ व्यवहार करता थीं। अपने गृहस्य का साय प्ररग्य प्रस तक उनके ही हाथ में पूरी तरह रखा और बिस्वस में जाने की प्रास्यकता मरा

जिस दक्षता से वे अंत तक सीमित प्राय में परिवार की गरिमा बनाये रहें उसका दक्षकर आन्वर्ष चक्रित हो जाना पड़ता था। उनकी व्यवस्था में धर्मभूत रूप और स्वच्छता भी अपने विवेक की सहायता से वे किसी भी कार्यक्रम की एक प्रत्यक्ष स्वच्छ रूप-रेखा निश्चित कर लेते थे और अपनी इच्छा-शक्ति और धारम-विश्वास से उसके परिपालन पर वे अधिकतर नियन्त्रण रखती थीं। गार्हस्थिक और सामाजिक दार्ता-दर्शों में उनकी प्रबल-मदुता का यही रहस्य था।

राज-विराम का यही सम्बल और उसमें निर्मित इन्हीं जीवन-तर्का को लेकर उन्होंने साहित्य में प्रवेश किया था। उच्च मध्य-यम की गार्हस्थिक गरिमा और सुस्कार, भाष्य की विद्वग्मना और उसमें उद्भूत जीवन-व्यापी पीड़ा अति-नय इतरगनीयता तथा ममत्व जीवन के तीव्र अनुभव और उसमें प्राप्त स्थिर विवेक तथा व्यक्तिक और स्थिति का परस्पर बारी-भारम-विश्वासमयी दृष्टि बाबा के व्यक्तित्व के ये ही मूल तत्व थे। वे बहुत अधिक पढ़ी-लिखी नहीं थीं हिन्दी के अतिरिक्त किसी दूसरी भाषा का ज्ञान उन्हें नहीं था और प्राकृतिक षर्ष में उन्हें बिहुपी नहीं कहा जा सकता था। पर इस कारण न ता उन्होंने किसी हीन भाव का अनुभव किया और न इस घमाव का कभी अपनी आत्मामिव्यक्ति में बाधक ही होने दिया। वेस उन्होंने बड़ा स्वाध्याय किया था हिन्दी तथा साहित्य और काव्य का उन्होंने अच्छा अध्ययन किया था। उनका अपनी बतना का बराबर गार्हस्थिक ही था पर वे सामाजिक और बाड़ी-बहुल राजनीतिक समस्याओं का अच्छी तरह समझती थीं और इन विषयों पर उनकी प्रतिक्रिया काफी जीवन्त होती थी क्योंकि वह पुस्तक-ज्ञान में नहीं जीवनानुभूति से प्ररित होती थी। मनाविज्ञान की विद्वान्त-पर्या में उन्हें बड़ी रुचि थी मनावैज्ञानिक सम्प्रदायों और उनकी विद्वान्त-गुणताया से अनभिज्ञ हाठी हुई थीं वे मना विज्ञान के मूल सिद्धांता का अच्छी तरह समझती थीं। उपर्युक्त पुणों के कारण ही उनकी कुछ कहानियाँ बहुत ही उत्कृष्ट बन पड़ी हैं। जटिलताओं से मुक्त उनका अद्भुत-तरल मनाविज्ञान या ठाव अनुभूति से प्ररित और स्वच्छ विवेक से नियन्त्रित है किन्तु मन पर सहज प्रभाव नहीं डालता ?

प्राय बीबी कबल कीति-रूप है। इस लेख का सिपठे-सिखते घनक बार उनकी यह स्नेहार्त्र मुद्रा मेरे सामने आ लड़ी हुई है और मेरे लिए लिपना कटिन हो गया है। वे न जाने कहाँ हापी बोन बठा सकता है ? फिर भी मरु स्नेह-विद्वामी मन कहता है कि वे नहीं भी हैं अपन स्नेह-भाजना की अधुपुन अज्ञानति को वे बस्तीवार नहीं करती।

खण्ड २ : विश्लेषण

एक

जय भारत

जय भारत में महाभारत का सपूष कथा हेनहुप क वृत्तान्त स सेकर पाइबा क स्वर्गारोहण तक की पूरी कथा उसमें पद्य-बद्ध है। यह प्रथम बीसा कि कवि ने निवेदन में स्वयं ही स्पष्ट किया है एक समय की कृति नहीं है। इसमें समय-समय पर मिथी हुई महाभारत-सम्बन्धी रचनाएँ संप्रपित हैं। इनमें स कुछ रचनाएँ वैसे कि केशों की कथा बक-संहार, बन-बैभव सीरन्त्री प्रादि तां गुप्त भी क कृतित्व क धारम्भिक काम की रचनाएँ हैं, महुप प्रादि मध्य-कालीन हैं और अप उच्चर-कालीन हैं। इस प्रकार जय भारत राट-कवि क सम्पूर्ण रचना-कास का प्रतिनिधि रूप माना जा सकता है, और उसमें—कवि क धपन क्षमों में—उनकी लेखनी के कम-विकास की रूप-रेखा स्पष्ट रूप से मिस जाती है। इस रंभ स स्वभावतः कथा वय प्रवाह धाद्योत्पान्त एक-ता नहीं है। कही तो वह पहाड़ी नदी क समान तीर की तरह प्रागे बढ़ती है और कही जैम धौरस भूमि पाकर बिरम जाती है। शैली मेर क कारण यह वैपम्य और भी उभर प्राता है क्वाकि धारम्भिक शैली स जहाँ फँसाव है वहाँ उत्तर-काल की शैली समास गुण-प्रधान है। इस प्रकार कथा-वर्धन में वह बगवान चारा-प्रवाह नहीं है जो महाकाम्य में हुना पाहिए, और जिसमें वैचित्रीपरणु भी की लेखनी धत्यत धमर्भ है। खंड-रूप स मिथी हुई वस्तु में प्रवाह धाना धम्मव भी नहीं है। हाँ जहाँ कवि को बोझ भी धवसर मिला है—जैसे 'युद्ध' स एसा धनायास ही हो गया है। दूसरी कठिनाई जय भारत के कथा-वर्धन में यह प्रा गई है कि एक धत्यंत घटना-सङ्गम तथा विस्तृत कथा का सूत्र-बद्ध करने क लिए कवि को जिस समास-शैली का प्रयोग करना पड़ा है उसक लिए महाभारत की सभी मूरम घटनाधों के ज्ञान का पाठक में धारोप करना धनिधार्य हो गया है, जो बास्तव में हुता नहीं है क्वाकि धाव क पाठक के पास महाभारत तथा पुण्यप्रादि का उठना सम्भूष पृष्ठाधार नहीं है। इसलिए कही-कही बांझिन प्रसंग धधवा पाव क परिधय क धमाव में पाठक का मन उलभ जाता है और उसकी धतुप्त जिज्ञासा को ऐसा सनता है मानो कथा का मुख धंग ही गया हो। परन्तु ऐसा

होता नहीं है, कथा का घनिष्ठ-सूत्र कही भी मंच नहीं हुआ। वास्तव में केवल वर्णन (Narration) की दृष्टि से पुस्तक की कथा और भी निम्न गार्ही है। नवीन स्वर्णों में प्राक्कमक का प्रहण और घनावयक का त्याग कवि ने इतनी सज्जई स किम्मा है कि मूत्र घाप से घाप बँपता बसा पाता है। कीरन पांडव' जैसे प्रसंग मरे कवन की पुष्टि करये।

इतिहास-मुपलघादि पर घापिघ काष्णों का सबसे महत्वपूर्ण तत्व होता है कथा और चरित्र का पुनर्निर्माण और उसका मूलवर्णों दृष्टिकोण क्णोंक कवन कथा-वर्णन तो घपने घाप में लक्ष्य हो नहीं लभता, और विघपकर पुरानी कथा की घावृत्ति माघ तो काई क्वा करपा ? रही कवि की सज्जना-घक्ति और भौतिक प्रतिमा की परीक्षा होती है। इती प्रकार एक पुक का कवि इतरे मुत्र की कथा को और उसके द्वारा उस मुत्र की घारमा को घपने मुत्र की घारमा में रखा भेता है। पुस्तक ने वा ठा महाभारत की घटनाघा म परिवर्तन प्रायः नहीं क बरुबर ही किम्मा है [इस दृष्टि से साकेत म राम-कथा क घाप उम्हान घपेधाइठ घधिक स्वतंत्रता बरती है] परन्तु इन घटनाघा का पुनराव्णान कवि का घपना है। इन पुनराव्णान के मूल घाधार बा हैं एक बुभोचित विवेक-बुद्धि और इतरा मुम-धर्म। महाभारत की कथा में घक्ति-प्राकृतिक एव घति-मानवीय तत्वों का समावेश स्वभावत ही घधिक है। घाज उसका मन में उतार भेता सहज नहीं है, इसक घतिरिक्त बनक ऐसी घटनाएँ भी हैं या घाज घसंघत घमघा घनुचित भी घतीत हो सक्ती है। कवि ने इसका विवेक और बुद्धि क द्वारा सघापान करने का सत्प्रयत्न किम्मा है। उदाहरण के लिए कवन एक घटना भौजिए—महाभारत की तब म रामाचक घटना शीपरी शीर-हरण। घाज का पांडक न तो इत घटना की मभता को हो सहज कर सक्ता है और न घ्यात के घमापान का ही सभक सक्ता है। ऐसी स्थिति में कवि का कर्तव्य-कर्म तथा शक्ति घौर भी कठिन हो जाता है। घपने मुत्र का बन्ने या कथा के मुत्र को ? वैधिवीसरण पुष्ट ने ऐसे स्वर्णों पर कौघत से काय मिता है और बन्नों की रखा करन का प्रयत्न किम्मा है। शीर हरण में शीपरी जहाँ एक घोर बघवान की सरण में जाती है वहाँ घपने घाज बन द्वारा बुघासन के मन में भीति भी जघाती है

रे बट, घापे बरक-बन्धि में तु निज मुत्र को लाती देख,

पोछे कइो बंधमुष्ट घिब पर भाग करानी काती देख।

इसक परिणाम-स्वरूप बुघासन का पानी मन और घरीर भय से सतिभित हो जाते हैं

सहसा दुःखासन ने बेका भवकार-सा चारों घोर,
 जान पड़ा भ्रमर-सा बहु पठ, जिसका कोई घोर न घोर ।
 भाकर धकस्मात् घति भय-सा उसके भोतर पैठ क्या,
 कर बड़ हुए घोर पर काँपे गिरता-सा बहु बँड क्या ।

कवि इतने पर ही सन्तुष्ट नहीं हुता घटना को घोर भी किस्बसनीय बनाने के लिए बहु तत्काल ही बांधारी का पाप-सभा में उपस्थित कर देता है । बांधारी की सामयिक उपस्थिति एक घोर जहाँ दुःखासन की असमर्तता को घोर भी निश्चित कर देती है वहाँ दूसरी धार उस घाबान का पर्याप्त समन भी करती है जो इस नगी तसवार जैसी घटना के द्वारा पाठक के मन पर घनायात ही हो जाता है । उस भयंकर पाप का प्रयासन बांधारी के इन क्षानि-विमलित धमुधा टाप ही हो सकता था

गिरर बंध बति से बहु बोली सकल धम्यता अपनी धाड
 नहीं देखते धरनों से ही जो हम अपनी लुडतो लाव ।
 × × ×
 बाई से वितु-कुन पुत्रों से पतिकुल मेरा नप्य हुआ
 धम्यतामो को ही धम्यता, मुझका कंता कप्य हुआ ।
 > × ×
 हाथ लोड की लज्जा भी धर नहीं रू पई सखित क्या,
 धाव बहु का तो कस मेरा कवि-बड नहीं धरजित क्या ?

इतना ही नहीं कवि ने हम पाप प्रसव क मार्जन के लिए प्राण घोर भीष्म को भी वहाँ से हटा दिया है घोर कण का भी बाह में पदचात्ताप करने पर विवध किया है

येने धपना एक कर्म ही धनुचित नाभा
 कप्या का धपमान ।

इसी प्रकार पाप बाँहें तो एक प्रसव घोर भी निवा जा सकता है हीपको का नक-सर्जित धाव बहु अनर्थ भी धापाण्यवया मन में नहीं उतर सकता । युधिष्ठिर घोर सहदेव दोनों की भाग्या कप्या का बिज मन में किनी प्रकार भी नुर्बि उलमन नहीं करता । उमे पचा मेने क लिए या ता धंधी धडा की धपंधा है या फिर धंधे विज्ञान की । गुण जो क सत्कारों का धानां ही स्वीक्य नही । धतएव उन्हीं फिर भीति घोर विवक का धाचन पकड़ा है । पहने तो कवि ने विवक का धाचन पकड़ा

बोले धर्मनिष्ठ प्रतिशाली,
 नर पार्थ वपु है पांशाली ।
 हो नर श्रेष्ठ का बह पावें,
 हो देवराज पर बलि जम्बें ।
 भोवें धीं धींचों तुझ इसका ।

वरन्तु इतनी शीघ्र परम्परा का तिरस्कार भी युक्त ही का व्यास्तिक मन
 जैसे करता ? धर्म-समाज की तरह यदि वे पार्थ को ही द्रोपदी का नर मान
 लेते तो उपर्युक्त व्याख्या सटीक बैठ जाती । परन्तु यह सम्भव नहीं हुआ और
 पंथ में कवि को धर्म-नीति-व्यवस्था तथा पूर्व-कर्म आदि का सामय लेना पड़ा

मागी यह माँ की बहु ब्रह्मा धनजाली भी,
 और व्यवस्थापक ने म्यास ऐसे बानी भी ।
 कहते हैं बाँध बार बार बा म्लेघ का
 और अनुमोदन या प्राप हृषीकेश का ।
 पांडवों के मन में म्लानि नहीं होती है
 तो वे मानता हूँ, बर्ष-दानि नहीं होती है । आदि आदि ।

इससे भय प्रापन परिछोप न हो यह दूसरी बात है, पर इससे अधिक
 संस्कारी कवि के लिए सम्भव भी नहीं था । इनमें सबसे अधिक भय है पांडवों के
 देह-नाश की घटना का पुनरावृत्त । इस दृष्टि में मैं उसे इस नाम्य का भय
 तम प्रथम मानता हूँ । मैथिलीधरम की प्रतिभा ऐसे प्रथमों में ही कम खेसती
 है । मुनि ए सबसे पूब द्रोपदी विरती है "विरती हूँ यह विरी प्रभो, नर पट्टेभूपो
 तुम से पहले ।" सुविच्छिदर इमे अपनी मुक्ति का प्रथम तापन मानते हुए कहते
 हैं "तुम नहीं विरी अर्जुन के प्रति यह पल्लवाकित्ता धैरी ही ।"

सुविच्छिदर और घाये कहते हैं । प्रबली बार नहरेव निरते है

एक करन सुविच्छिदर ने उनसे बतते-बतते बत पड़ी कथा,

तुम नहीं विरा तुम में मेरा कपाधिमान जो उठा रहा ।

किर महुल विरे तो सुविच्छिदर ने उमे अपनी मति-बनि के सर्व का ही विनाय
 माना । घाये अर्जुन विरत है

घाये बत विरे बर्तव्य भी "घर और नहीं उठता नर ही",

तुम नहरे विरे, अर्जुन विरत यही तुम में मेरा काकी सज ही ।

और घत में

बोले किर भीव बत में बों है धार्य । यहाँ में भी दूरा,

तुम छूरे नहीं तुम्हारे निर, नरा प्रीयत्य यहाँ पूरा ।

इस प्रकार बुध्दिष्टि के सभी भौतिक बन्धन छू जाते हैं और वे मुद-मुद धारमा रह जाते हैं।

कुल पये सभी बन्धन मानो, सब धाय धाय में ध्वस्त हुए।

पुनरुत्थान का दूधरा मूल धामार है युग-धर्म। गुप्त जी सन्धे धर्म में इस युग का प्रतिनिधि कवि हैं। वे दापर, नेता सतयुग जहाँ कहीं भी गये हैं अपने युग को साब से पये हैं। धाम का युग-धर्म है मानवता और गुप्त जी ने महाभारत के पार्श्वों का पुनर्निर्माण इसी के धामार पर किया है। उदाहरण के लिए बुध्दासन में भी गुप्त जी ने भ्रतु-भक्ति जोड़ निकरनी है

इच्छा तुम्हारी अधिधारलीया,
होती नहीं तो फिर तोस्ता में।
जीबू न जीबू बल से लभा में
बुझूँ किया कब हीपरी के।
कहे मुझे, जो कछ तोड़ चाहे,
तो भी इसे कोन नहीं कहेया।
भाई नहीं किकर न तुम्हारा
में चाहुता राग्य नहीं मुन्हें ही।

पुयोधन को तो उन्होंने मुयोधन बना ही दिया है। उसका घंत हृदय-शावक है, यदि बुध्दिष्टि की उपस्थिति न हो तो पाठक का साधारणीकरण उसी का साब हो जाए।

सबसे अधिक ध्यान उन्होंने बुध्दिष्टि के चरित्रांकन पर ही दिया है। जैसे तो बुध्दिष्टि अपने धाय ही मानवता के प्रतीक हैं, फिर भी गुप्त जी ने स्थान स्थान पर उनके मानवत्व को और भी निखार कर सामने रख दिया है। कवि का सुमार्ध हरय और अधिसा को जैसे उनके व्यक्तित्व में धामार मिल गया है। मानवता की परीक्षा में तीन बार उत्तीर्ण करकर कवि ने उन्हें ही अपना मूल पात्र माना है—'जय भारत' वास्तव में बुध्दिष्टि की मानवता की ही 'जय' है।



बो कुरुक्षेत्र

‘कुरुक्षेत्र’ विनकर की प्रौढ़तम काव्य-कृति है। पारिभाषिक रूप में तो इसे सप्त-सर्ग-बद्ध पौराणिक प्रबन्ध-काव्य कहा जा सकता है परन्तु वस्तुतः न तो यह पौराणिक ही है और न प्रबन्ध काव्य ही। यह तो घनी समाप्त होने वाले यूरोप के द्वितीय महासमर से प्रेरित एक लम्बी चिन्ता-प्रधान कविता है। इसमें न तो कुरुक्षेत्र का घटना-चक्र है और न उत्तम शक्ति-निबन्ध—इसमें तो स्वयं कवि के धर्मों में उत्तम संकल्पित हृदय ही मस्तिष्क के स्तर पर चढ़ कर बोल रहा है। वास्तव में चिन्ता-प्रधान कविता की यही परिभाषा है—जब हृदय अपने उद्गार सहज और प्रत्यक्ष रूप में व्यक्त करता है तब गीति-कविता का जन्म होता है; और जब यह मस्तिष्क के स्तर पर चढ़ कर बोलता है तो चिन्ता-प्रधान कविता का उद्भव होता है। चिन्ता-प्रधान कविता और तमीन शैक्षिक कविता में सबसे स्पष्ट अंतर यही है कि उसमें मस्तिष्क हृदय के स्तर पर चढ़कर बोलता है, यर्थात् उसमें मस्तिष्क के विचार और तर्क-वितर्क भावना का प्राथम्य लेकर व्यक्त होते हैं, और इसमें हृदय की भावना विचार और तर्क-वितर्क का प्राथम्य लेकर व्यक्त होती है। पहली में प्रवर्णीय विचार और भावना माध्यम है, दूसरी में प्रवर्णीय भावना है, और विचार माध्यम है—इसीलिए अपने सहज रूप में पहली की अपेक्षा दूसरी में काव्य-रस की प्रचुरता मिलती है। विनकर ने स्वयं ‘कुरुक्षेत्र’ के प्रबन्ध-रस की सफाई में कहा है कि इसके प्रकाश की एकटा बहिष्कृत विचारों को लेकर है परन्तु उनकी यह चारुता प्राप्त है। इसमें एकटा विचार की विभक्तन नहीं है—बल्कि पुंड के मौखित्य और घनीभाव को लेकर उठने वाली उन मर्म की है जिन्ने उनके मन को घुमिन्ड कर दिया था। इस काव्य में कुरुक्षेत्र पुंड का प्रतीक है युधिष्ठिर और भीष्म कवि के तर्क और वितर्क यर्थात् विचार के बोली बलों के प्रतीक हैं, जिन पर प्राकृत होकर उनके मन की द्विधा गवाधान की धार सीढ़ी है। युधिष्ठिर घड़िन के प्रतीक है जो पुंड को द्विती परिर्विन में भी उचित नहीं मानत है, और भीष्म व्यास-वाचना के प्रतीक है जो व्यास के हवन के निष्ण पुंड को उचित ही नहीं पावसक

श्री कुरुक्षेत्र

'कुरुक्षेत्र' बिनकर की प्रौढ़तम काव्य-कृति है। पारिभाषिक रूप में तो इसे सप्त-सर्ग-बद्ध पौराणिक प्रबन्ध-काव्य कहा जा सकता है परन्तु वास्तुतः न तो यह पौराणिक ही है और न प्रबन्ध-काव्य ही। यह तो अभी समाप्त होने वाले बुरोस के द्वितीय महासमर से प्रेरित एक लम्बी चिन्ता-प्रधान कविता है। इसमें न तो कुरुक्षेत्र का घटना-वक्त्र है और न उसका क्षमिक निबन्ध—इसमें तो स्वयं कवि के हृदयों में उसका संक्रान्त हृदय ही मस्तिष्क के स्तर पर चढ़ कर बोल रहा है। वास्तव में चिन्ता-प्रधान कविता की यही परिभाषा है—जब हृदय अपने उद्गार उद्गार और प्रसन्न रूप में व्यक्त करता है तब कीर्ति-कविता का जन्म होता है; और जब वह मस्तिष्क के स्तर पर चढ़ कर बोलता है तो चिन्ता-प्रधान कविता का उद्गार होता है। चिन्ता-प्रधान कविता और तबीय बौद्धिक कविता में सबसे स्पष्ट अंतर यही है कि इसमें मस्तिष्क हृदय के स्तर पर चढ़कर बोलता है अर्थात् इसमें मस्तिष्क के विचार और तर्क-वितर्क भावना का प्राथम्य लेकर व्यक्त होते हैं, और इसमें हृदय की भावना विचार और तर्क-वितर्क का प्राथम्य लेकर व्यक्त होती है। पहली में प्रवर्णीय विचार और भावना साम्यम है, दूसरी में प्रवर्णीय भावना है और विचार साम्यम है—इसीलिए पहले उद्गार रूप में पहली की अपेक्षा दूसरी में काव्य-तत्त्व की प्रकृता मितती है। बिनकर ने स्वयं 'कुरुक्षेत्र' के प्रबन्ध-तत्त्व की अपेक्षा में कहा है कि इसके प्रबन्ध की एकता बसिष्ठ विचारों की लेकर है परन्तु उनही यह धारणा प्राप्त है। इसमें एकता विचार की बिलकुल नहीं है—बल्कि मुझ के अविचार और अविचार को लेकर उठने वाली उन धारा की है जिनसे उनके मन का अस्थिर कर दिया था। इस काव्य में कुरुक्षेत्र मुझ का प्रतीक है सुधिच्छिन्न और भीषण बलि के तर्क और वितर्क अर्थात् विचार के शानों पलों के प्रतीक है जिन पर धाकड़ होकर उनका मन की द्विधा नमाधान की ओर बीडगी है। सुधिच्छिन्न अर्थात् प्रतीक है जो मुझ को किनी परिस्थिति में भी उचित नहीं मानता है और भीषण न्याय भावना का प्रतीक है या अत्याय का दहन का लिए मुझ को उचित ही नहीं, धारण्यक

भी मानते हैं। इन दोनों प्रतीकों का लेकर निरङ्ग न युद्ध में विद्युत्प्रकाश ध्वज
 हृदय धीरे मस्तिष्क से संकल्पना में युक्ति पान का प्रयत्न किया है। वास्तव में
 उत्पुलक दोनों एक ही प्रयत्न हैं—धीरे धीरे क प्रयत्न मन की उद्विधा भी उतनी ही
 तीव्र है। वह उन प्रयत्न का निवासी है जिसमें एक धार प्रभावी और और पुष्ट
 मज्जाट हुए हैं, धीरे धीरे धार भगवान् कृष्ण। कृष्ण का तात्पर्य यह है कि विनय
 धीरे उत्पत्ता समा धीरे शीघ्र दिनकर क संस्कारों में गम हुए हैं—इसीलिए
 वह "म शान्तों पथों की प्रयत्न मयका धीरे तीव्र परिष्कारिण करण में ममर्थ
 हुए हैं।

देखिये महानारण्य-विनया धमराज सुषिष्टिण धानी विनय को कश्चेत में
 विष्टी मार्गों में गमन यह है। मान्य महानारण्य क उपायन कश्चेत का
 हस्य है—

जहाँ मयकर भीमकाय धक-सा निर्यंर धर्यात
 द्विपित्त-भात हो लेट गया है स्वयं काल विर्षात ।
 रपिर तिष्ठत संवत्त में नर के अंशित लिये उत्तोर
 नृकतता विषम्य पश्ये है परत, मोन संधीर ।

× × ×
 यह उषिष्ट प्रलय का धहि-र-प्रित ममुन यह देष्ट,
 मेरे द्वित मो के यह में बरदान यही का प्रेष ।
 सुषिष्टिण एक मास शीघ्र उज्र है—

मन का पुत्र बने पनु भोजन मलक का यह संत ।
 परत भूमि क नर बीरों को यह युगति, हा हूँत ।
 इन महान्मथान के माप जब व धानी विनय का गुपता करते हैं तो उन्हें
 मदन हा "मयी मुष्कता का ज्ञान हा जाता है—

कय के धयमाल के ताव रितामष्ट,
 विनय विनायक युद्ध को छोनिये ।

उनका स्वयं धयाम का विचार हा मानो उन महानारण्य की ज्ञाना में उन
 कर नवन हा जाता है धीरे व साकत है कि—
 रूपका क परामय का बरसा दर देय का नाम बुकाना का क्या ?" के स्पानि
 न धनिनूय हा बात है उनका विनय ही मन्ना उन पर धय्य कर रही है—
 एक धरक अंशान धनिष्टिण की जय की पशुधान
 एक मुष्क अंशान महानारण्य का धरपम बाने ।
 यही मन्ना कि व जयम जयन मयन है—उनका मान करता उन्हें तथा ममता है

वैसा हास ही में विचारा हुई किसी 'दुःखिनी के साथ व्याधु का साथ बँडोगा' ।

इस प्रकार एक घोर कृस्नेज में होने वाले भयंकर रक्तपात और दूसरी घोर विवेका युक्तिधर के मन को कचोटने वाली तीव्रतम सामाजिक शक्ति ने युद्ध के विपक्ष में अपनी भाव-प्रेरित संजीर सुक्तिमा उपस्थित की है ।

इस पाप का युक्तिधर के मन पर ऐसा घातक छा जाता है कि वे अपने को संपूर्ण मानवता के प्रति अपराधी मान बैठते हैं और सज्जा को क्षिप्रा के लिए दुनिया को ही छोड़ कर मान जाना चाहते हैं

मानव को देखा घाँसे प्राप भूक जाती मन
चाहता सकेता कहीं भाव जाऊँ उन में ।

क्याकि—

अप्य से विचारा नहीं बर्बर हृदय तो नहीं,
बन में कहीं तो बर्मराज न कहाँग्या ।

इसके विपरीत युद्ध का दूसरा पक्ष भी है—उसके समर्थक में मुक्त जन भीष्म की भाव-दीप्त वाली मूर्तिमें

है बहुत देखा सुना मने नवर, बेध तुल पाया न धर्मधर्म कर ।
पाप तक ऐसा कि देखा खींच कर बाँट हूँ मैं पुण्य को धौपाप को ।
जाकता हूँ बिन्धु जीने के लिए, चाँदिले अंगार खँसी बीरता ।
पाप हो सकता नहीं बहु युद्ध है, जो कड़ा होता अस्मित प्रतिशोध पर ।

तब कसला धमा बिनय और त्याग—ये सभी व्यक्ति की सोमा है, परन्तु जब प्रत्येक व्यक्ति का न रह कर 'असुराद्य' का हो जाता है उस समय तो युद्ध द्वारा अत्याप का समन मनुष्य का परम धर्म बन जाता है । और फिर युद्ध का होना किसी एक व्यक्ति या एक जाति पर निर्भर तो नहीं है—बल्कि तो मानव व्यक्तियों और जातियों के हृदय में न जाने कब से नुमबती हुई अग्नि का महा-विस्फोट है जो सबका धर्मधर्म होता है—कृष्ण के युद्ध के लिए केवल युक्तिधर और कुर्षोप ही उत्तरदायी नहीं थे और न केवल उनके परिवार ही बल्कि तो सम्पूर्ण भारतीय का ही विस्फोट था—

न केवल यह कुकल कृष्णा के संघर्ष का था—
बिन्दु विस्फोट यह संपूर्ण भारतवर्ष का था ।

म जाने कितने पुषों से बिना में विप-बाण बहनी या रही थी । अन्ध याज्ञा और अनेक बंग परस्पर रीर-आपन के लिए तैयार बैठे थे—और अन्ध का काँ बड़ा आघात पाय रहे प । नहीं कोई सुन्दरे की पुरला के प्रति रियाँ से जन रहा था—द्विनी क हृदय में नुमरे की कृता क प्रति धोन था । नहीं एक

पना का उत्कर्ष बुझने राजाओं का खटक रहा था—किसी के हृदय में प्रतिघोष की आवाज उमर रही थी। एक घोर रात्रि कर्ण पार्श्व-वध का प्रथम निशाना बाहूटा था—बुझी घोर बुझ गुरु द्रोण से वैर-मुक्ति के लिए व्यग्र था। इधर अश्विनी अपने पिता का अशुचि बुझाने के लिए कुर्वोचन पर माया फैला रहा था उधर मयवान कृष्ण के सुचारों से बिड़े हुए राजाओं का अभिमान भीतर ही भीतर बुझुपा रहा था। इनके प्रतिरिक्त घोर जो कृष्ण व्यग्र था वह पांडवों के राजसूय ने पूरा कर दिया। इस प्रकार परस्पर के क्रमह घोर वैर से अपने घाय ही साथ भारतवर्ष को रक्षा में विमग्न हो चुका था—घोर रातों ही रस

कड़े वे वे हृदय में प्रगल्भित संवार लेकर—

बगुर्जा को बड़ा कर म्यान में तलवार लेकर।

मुझ के कारणों के इस क्रमिक विकास का ज्वाला का प्रतीक लेकर, कवि ने प्रत्यक्ष ही भाव-सूत्र बर्णन किया है।

मुझ-विषयक हम्ही को प्रतिस्क्रियाओं द्वारा विमग्न कवि का मन अंत में समा बाल की घोर पीड़ता है। आखिर, इस द्विविधा का अंत कहाँ है? इसी का विचार करता हुआ वह फिर इधर क महाभारत को छाड़ बीसवीं शताब्दी क द्वितीय महायुद्ध की धार सौं घाटा है—घोर बुद्धि के प्रतिघार में मुझ के कारण की खोज कछा है

किन्तु है कछता पया मस्तिष्क ही नि-घोष
 कूट कर पीछे पया है यह हृदय का रेष
 नर नगला नित्य नूतन बुद्धि का त्योहार,
 प्रास में करते बुझी हो बेबता भीरवार।

बाहिए उनको न केवल ज्ञान
 देवता है माँपते कुछ स्नह कुछ बतिराज
 मोम-सी कोई मुलायम चीज
 ताप पाकर जो उठे मन में पसीम-पसीम

से बुझी कुछ-भाग समुचित से प्रविष्ट है देह,
 देवता है माँपते मन के लिये सपु मेह।

मानव-मन के देवताओं को यह सद्-नेह बुद्धि क विगतम क्रम में न मिसकर हृदय के छाँटे घोर गर्म काने में मिलेगा अर्थात् घाव की विपगतियों का बिनका सबसे मर्यकर परिणाम मुझ में प्रकट होता है, धमाधान विज्ञान द्वारा सम्मन न होकर स्नेह द्वारा ही सम्मन है

जैसा हमल ही में बिबवा हुई किधी 'कुञ्जिनी के छात्र म्याह का छात्र सेंजोना' ।

इस प्रकार एक घोर कुट्टोष में होने वाले अर्थकर रक्तपात और दूसरी घोर विजेता युधिष्ठिर के मन को कपोतने वाली तीव्रतम स्नानि के हाथ कवि ने मुड के बिपन्न में अपनी भाव-वैरित बंभौर युक्तिवाँ उपस्थित की है ।

इस पाप का युधिष्ठिर के मन पर ऐसा घातक छा जाता है कि वे अपने को संभुर्भ मानवता के प्रति अपराधी मान बैठे हैं और मर्या को छिदाने के लिए दुनिया को ही छोड़ कर भाग जाना चाहते हैं

मानव को देख घाँवें घाय भुङ्क जाती, धन
चाहता धकेला कहीं भाव जाऊँ बन में ।

क्योंकि—

धर्म्य से बिबवा बहाँ जर्जर हृदय तो नहीं,
बन में कहीं तो बर्मराज न कहूँरंगा ।

इसके बिपरीत मुड का दूसरा पल भी है—उत्तके समर्थन में मृत्युंजय भीष्म की भाव-दीप्त वाली मुनिये

है बहुत देखा मुना मनें मपर, भेद कुल बाया न बर्मायम का ।
घाज तक ऐसा कि देखा खीच कर बाँड हूँ मैं पुष्य को घौ बाध को ।
जानता हूँ किन्तु जीने के लिए, चाहिये बंभार जँती बीरता ।
पाप हो सकता नहीं बह मुड है जो बड़ा होता उन्नित प्रतिघोष पर ।

तब करणा घना बिनय और त्याग—ये सभी व्यक्ति की घोषा है, परन्तु जब प्रसन्न 'स्मृति' का न रह कर 'समुदाय' का हो जाता है उस समय तो मुड हाथ घम्याय का समन मनुष्य का परम धर्म बन जाता है । और फिर मुड का होना किसी एक व्यक्ति या एक जाति पर निर्भर तो नहीं है—बह तो अनेक व्यक्तियों और जातियों के हृदय में न जाने कब से गुप्तगती हुई धमि का महा-विस्फोट है या सर्वथा अनिर्वाय होता है—कुत्थोष क मुड के लिए केवल युधिष्ठिर और दुर्योधन ही उत्तरदायी नहीं थे और न केवल उनका परिवार ही बह तो सम्पूर्ण भारतवर्ष का ही विस्फोट था—

न केवल यह भुक्त कुत्थोष के संघर्ष का था—

बिन्दु विस्फोट यह संभुर्भ भारतवर्ष का था ।

न जाने कितने गुप्तों व बिरर में विग-बानु बहनी या रही थी । अनेक पांडा और अनेक बंभ परकार बेर-आयन क सिध ठीपार बैठे थे—और समर का कोई बड़ा घापार गात्र रहे थे । नहीं कोई दुन्दे की घूरला क प्रति ईर्ष्या से जन रहा था—किसी के हृदय में दुन्दे की घूरला क प्रति धाम था । नहीं एक

एवा का उत्कर्ष हुआरे राजाओं को खटक रहा था—किरी के हृदय में प्रतिघोष की आवाज चल रही थी। एक घोर उपेय कर्ण पार्श्व-वच का प्रथम निमाता बाहता था—दूधरी घोर हुएर हुएर होम्स से बेर-बुद्धि के लिए व्यथ था। इधर सकृति अपने पिता का आण बुकाने के लिए दुर्वोभन पर माया पैसा रहा था जबर समयान कृष्ण के सुमारों से बिड़े हुए राजाओं का समिमान भीतर ही भीतर बु बुधा रहा था। इनके पतिरिक्त घोर को कृष्ण धप था बहु पांड्यों के राजभुव ने पूरा कर दिवा। इस प्रकार परस्पर के कलह घोर बेर से अपने प्राप ही छाण मात्तवर्ष को बलों में विभक्त हो चुका था—घोर बोनों ही बल

जड़े से से हृदय में प्रखलिप्त मंगार धिक्कर—

पमुर्गों को बड़ा कर म्बाव में तलवार लेकर।

बुद्ध के कारणों के इस क्षमिक विकास का आभा का प्रतीक लेकर, कवि ने प्रत्यन्त ही साव-पूर्व वर्णन किया है।

बुद्ध-विप्लवक इन्ही दो प्रतिस्वार्थों द्वारा विभक्त कवि का मन अंत में समा जान की घोर बीड़ता है। आखिर, इस द्विविधा का अंत कहाँ है? इसी का विचार करता हुआ वह फिर इधर के महानगर को छोड़ बीसवीं शताब्दी के त्रितीय महाबुद्ध की घोर लीट प्राता है—घोर बुद्धि के पतिचार में बुद्ध के कारण की खोज करता है

किन्तु है बढ़ता पदा नस्तिष्क हो नि-श्रेव

हृद कर पीछे गया है यह हृदय का देश,

नर बनाता नित्य नूतन बुद्धि का त्यौहार,

प्राप्त में करते दुखी हो देवता जीतकार।

बाह्यि उनको न केवल मात्र

देवता है मापते कुछ स्वेह कुछ बतिराज

मोम-सी कोई मलापय चीज

ताप नाकर को उठे मन में पत्नीज-पत्नीज

मि बुद्धी लुब्ध-भाग समुचित से पबिक्त है देह,

देवता है मापते मन के निवे समु वेह।

मानव-वन के देवताओं को यह लक्ष्मी-बुद्धि के विमान कक्ष में न मिलकर हृदय के छोटे घोर बर्न कोने में मिलेगा' परबन्ध पाव की विपमताओं का विनका सबसे नर्यकर परिणाम बुद्ध में प्रकट होता है, समाधान विज्ञान द्वारा सम्भव न होकर स्वेह द्वारा ही सम्भव है

रसधृती भू के मनुज का भेद
 यह नही विज्ञान क्यू घाम्नेय ।
 भेद उसका प्राण में बहती प्रलय की बामु
 मानवों के हेतु प्रवित मानवों की धाय ।
 भेद उसका प्राणुओं की धार
 भेद उसका भग्न बीजा की धवीर पुकार ।
 विष्य भावों के अण्ड में आवरस का मान
 मानवों का भेद घातमा का किरण-प्रमिषाम ।

मानव का मानव के प्रति यही मुख धारम-दान संत में जीवन के साम्य को
 जन्म देता है—वहाँ सारे वैषम्य दूर हो जाते हैं । वैयक्तिक भोजनवाद इन वैषम्यों
 का मूल कारण है—इसी के कारण क्रमशः राज-संघ बंड-विधान आदि धोपण
 की धनक विधियों का जन्म हुआ है । इसका अंत करते हुए साम्य भाव की
 स्थापना ही मानो जीवन की मुक्ति है ।

बस्करत-मुकुट, परे दोनों के छिपा एक जो नर है

जिस दिन देव उसे पावेया मनुज ताल के बल से

उस दिन होया मुप्रभात नर के सोनाप-उदय का,

उस दिन होया धंज स्वमित मानव की महा विजय का ।

भीष्म वितामह मुक्तिधर को अंत में बही उपदेश देते हैं—संन्यास साम्य
 का आदि सत्री व्यक्तिवाद का धन-संघ है—वे ता जीवन में पसायन करने के
 धर्म हैं उम्हें मुक्ति-पथ समझना प्रम है ।

परंतु मुख का वास्तविक रूप क्या है यह प्रश्न भी कम संभौर नहीं है ।
 साधारणतः इसके दो उत्तर सामने आते हैं—एक तो देह के धारण का सर्वथा
 निषेध करता हुआ धारमा का धारम का ही मन्था मुख मानता है और दूसरा
 धारमा का धारम का मिथ्या कल्पना बहता हुआ मुख का धर्म भौतिक उपभोग ही
 करता है । परंतु वास्तविक मय होना का सामंजस्य में ही है - इसमें सबेह नहीं
 कि मुख का मूल धारम भौतिक ही है—

नर जिस पर अस्तता बहु मिट्टी है, धाकाय भड़ी है ।

परंतु फिर भी पिप्या पर विजय प्राप्त कर इन भौतिक मुख का संस्कार
 करना अनिवार्य है —

और छिपायो भोजनवाह को यही रीति जन-जन को

करें विलीन देह को मन न गहो देह में मय को ।

स्पष्ट ही मुठ-समस्या का यह मानववादी समाधान है। मिट्टी की महिमा व्यक्तिवाद के सभी रूपों और उसकी सभी अभिव्यक्तियों का जैसे वैयक्तिक भांगवाह राजतंत्र बँड-बिघान सामाजिक वैषम्य और उभर संभ्रास प्राध्यात्मिक साधना आदि का तिरस्कार समाजवादी जीवन-रूपन के प्रभाव की ओर इंगित करता है। और निश्चय ही दिनकर को उसके प्रति गहरी भावना है। परन्तु उन्होंने उसके व्यापक और परिष्कृत रूप को ही ग्रहण किया है। उनके संस्कारों पर भारतीय आदर्शवाद का गहरा प्रभाव है इसीलिए उनका दृष्टिकोण सर्वथा भौतिक नहीं रही हो पाया—एक सूक्ष्म आदर्शोन्मुखी चेतना उसमें परिध्याप्त है जो उसे स्थूल ऐशिकता से ऊपर उठाने रखती है।

मुठ के ये दोनों पक्ष वास्तव में वैयक्तिक तथा सामाजिक दृष्टिकोणों के ही परिणाम हैं—और उनके बीच की द्विविधा जीवन में व्यक्ति-तत्त्व और समाज तत्त्व के बीच की द्विविधा ही है—जो दिनकर के मन का मूल द्वंद्व है। इन दोनों पक्षों को कवि ने इतने सफल रूप में रखा है कि पाठक सोना ही विद्याओं में बहने लगता है। बुद्धिधर और भीष्म दोनों के ही चर्यों में अनिर्वास्य बल है और उन्हें यह बल मिला है कवि की द्विधामक प्रत्यूति से। केवल अंतिम सर्ग में आकर जब समाधान की खोज हुई है तभी उसे बुद्धि पर आश्रित होना पड़ा है, और ऐसा प्रतीत होता है जैसे बुद्धिपूर्वक इस द्विविधा का मिटाने का प्रयत्न किया गया है। इसी लिए काव्य की दृष्टि से यह धर्म बोझा निर्बल हो गया है—और विचारों में भी एक उलझन-सी पड़ गयी है। भीष्म के ठरुं जो इससे पूर्व प्रत्यूति से पुष्ट थे यहाँ आकर सैद्धांतिक व्याख्यान का रूप धारण कर प्रत्यक्ष अपनी शक्ति खो बैठे हैं।

'कुलचेत्र' में आकर दिनकर की कला में एक स्तुत्य प्रौढ़ता आ गई है। उन्होंने यहाँ विस्तृत काव्य-सामग्री का बिना धाबास के प्रयोग करते हुए विराट और क्रौमल चित्र उपस्थित किये हैं। भूत्यूजय भीष्म का एक विराट चित्र देखिये —

सर्गों की लोक पर जेठे हुए पञ्चराज जैसे

बड़े-दूरे पण्ड-से, कस्त पन्नपराज जैसे

मरुत पर और-बीबल का प्रथम बल-भार डाले

बबाले काल को सायास संज्ञा को धभासे।

बीष की पक्रिया में धन्याय-पूर्ण वांति को किरन धर्म-मूर्त चर्यों में चित्र-बद्ध किया गया है—

घामल सरल बचन मधुमय है तन पर मुझ बसत है,
 बचो युधिष्ठिर! इस नायिक का भिय से मरा बसत है।
 इसा प्रकार अभिव्यञ्जना म मी परसुन बचना धर्म-भीरव घोर उमान-मुसु
 मितता है।

दिनकर की कला की प्रमुख बिद्यपता उसकी गुल-सरल मति है। कुपधम
 की काव्य-मासपी के निवाजन म उच्च-विन्यास में छंद और मय की वाचना में
 सबन यही गुल-सरल मति मिलती है। उसमें कही भी वाट-छूट जड़ाव या
 बनाब-समार का प्रयत्न नहीं घोर इनका कारण ओ उनकी सबस अनुभूति ही है
 या प्रनायाम ही बाधारा म फूट उठती है।

हिंदी क कविता म युद्ध म प्रस्था प्राप्त कर धनक कविताएँ मिली हैं—
 परन्तु उमम म अधिकोस स्वामी नहीं हा पापपी—उमका कारण एक ता यही
 है कि इस युद्ध का प्रभाव हमारे ऊपर सीधा नहीं पड़ा। प्रथम इसत हमें यह
 मभीर प्ररणा म प्राप्त हा सकी जा रम-बीण्ड कविता को जन्म बेती है। सब
 मिला कर हा बार रचनाएँ ऐसी हैं जा प्राबुनिक हिंदी कविता की स्वामी मिधि
 हा सकेंगी और इनमें सबस उत्कृष्ट है जा प्राबुनिक हिंदी कविता की स्वामी मिधि
 घोर दिनकर का 'कुपधम' है। इन दोनों क जीवन-दर्शनों में एक प्रकार का
 वैपरीत्य है परन्तु उनमें एक बात समान है। यह यह कि युद्ध क प्रति इनकी
 प्रतिक्रिया युद्ध मानवीय धयबा मानवबासी है नैदानिक धयबा राजनीतिक नहीं
 युद्ध क सामयिक क्य का म लेकर इन कविता म उनके धावत-क्य का ही प्रहृ
 क्रिया है—एक घोर युद्ध म होने वाले भीषण नर-नश की मानव-वृत्तियाँ
 क्या क्रिया-प्रतिक्रिया हाती है घोर दुनरी घार उनक धावत-पर मनुष्य क संपूछ
 पोष्य घोर मोयें की किस प्रकार परीक्षा हाती है मूसत यही इनका धर्म विषय
 रहा है। निदान उनमें युद्ध क बिघट घोर कससु दोनों पधो का जय विजय
 मितता है। दोनों ने धयन-धयन स्वभाव घोर मस्कारों क अनुसार इमी की
 अभिव्यक्ति की है। इममें सरह नहीं कि इन कवियों का बौद्धिक मत्पताएँ भी
 उनके साथ रहा है—परन्तु के अनुभूति की पापक ही रही है—उसको प्रक
 भयबा स्वानाम्न प्राय नहीं हा पापी। इनकी सफ़लता का दुमरा कारण यह है
 कि इन्होंने युद्ध क बिघट यों ही नार दुपंड नहीं लिे बरन् काव्य की म्बंजना
 त्यक घेसी का प्रयाय किया है। सिघारामघारण जी ने क्यक हा घोर दिनकर
 ने कुपधम की पूछ-भूमि का धायम मकर हमारे सत्वार घोर कलना को भी
 जवान में सफ़लता प्राप्त की है। इसीलिए दोनों की धयेधा इनका प्रभाव धयिक
 म्बंज घोर गहरा हा गया है। हिंदी में धावत-म नामन घोर मसुर भावना क

धर्म कवि धनेक हैं—परन्तु बिराट-भाव को धर्म के पीछे-पीछे स्वर्गों में बाँधने वाले कवि प्रसाद और निरामा के बाद मुक्ति के नजर आते हैं। दिनकर का पीरक यह है कि उनको बिराट और कोमल पर समान अधिकार प्राप्त है। धर्म प्रसाद पर निरामा और महादेवी का युग समाप्त-सा ही हो गया है, और अनेक प्रकार के शरीर जीवन-रसम तथा बोधला-पथों के होते हुए भी हिंदी काम्य-भार उतार पर है। जब मैं उनके उत्तपत्तिकारियों की ओर दृष्टि डालता हूँ तो सब से अधिक आशा दिनकर से ही होती है।



नहीं कर पाये । परिचाय यह हुआ कि यहाँ अन्य कवि अपनी अनुकूलि के स्वप्न को धीरे-धीरे पहचानते गये और अन्त में उनकी कृतिवाँ अधिक व्यक्त और स्पष्ट होती गयीं वहाँ हिमकिरीटिनी के कवि ने इस दिशा में कोई विरोध उठाया नहीं की—उसकी गयी-पुरानी सभी कविताओं में एक-ही प्रवृत्ति बनी रही ।

प्रौढस्वित्ता का उद्गम

इन कविताओं की प्रौढस्वित्ता का उद्गम है कवि की सक्रिय राष्ट्रीयता । यह राष्ट्रीयता कविता में केवल शेष-शक्ति के रूप में ही व्यक्त हुई है । वास्तव में वास्तविकता के प्रति असीम विश्वास और भ्रम है—उनकी प्रवृत्ति में पूर्ण आस्था । उनके ये भीरु भीत बन्दिनी भीरुता के उद्बोध है जिनमें असाह्य और आत्मसंतुष्टि के साथ विवशता की कल्पना भी मिली हुई है—इसलिए इसमें विजय का असाह्य नहीं—बहिर्गत का असाह्य है । इस प्रकार की कविताओं का सम्बन्ध प्रायः जेल से है । उनमें से बहुत-सी तो जेल में ही लिखी गयी हैं । इन कविताओं में एक शीर्षक है । 'कौन्सि और कोकिला' इसी प्रकार की कविता है—

काली तू रबनी भी काली
 आत्म की करनी भी काली,
 काली लहर कल्पना काली
 धिरी काम-कोठरी काली,
 होपी काली, कलनी काली,
 धिरी लोह-गुलना काली,
 बहुरे की हुकूमत की काली
 तिसपर है गाली दे घाली ।
 इस काले संकट-सागर पर
 करने को मदवाली ।
 कोकिल बोले तो ।
 अपने पतिबाने पीठों को
 याकर हो तैराली ।
 कोकिल बोले तो ।

येने जैसा अभी कहा है, इन कविताओं में प्रौढ और आधुनिक भविष्यत है—प्रयास-स्वप्न यही कविता भी या शक्य है । जेल की काली रात में कोकिल की बुझार उनका हृदय में बने हुए मधुर कवि और आत्मनिर्भरानी शक्ति शक्तियों को एक साथ जगा देती है । हिमकिरीटिनी की ये कृतियाँ ही मदन परिचय स्वप्न

हुर्र है—इनका ध्यान कवि क भावों की संकुचता को भेद कर फूट पड़ा है—
प्रभिव्यक्ति तीर की तरह सीधी है

सङ्गने तक महामान
एक बुँबी है तीर कमान ।
मुझे मूलने में सुख पाती ।
जय की काली स्वाही,
बन्धन दूर कठिन सीधा है,
ये हूँ एक सिपाही ।
तिर पर प्रलय, नेत्र में मस्ति,
कूटछी में मन—बाही,
सक्य मात्र मेरा प्रियतम है,
ये हूँ एक सिपाही ।

इन कविताओं की सबसे बड़ी बाधा है कवि की रहस्यात्मक प्रवृत्ति । वह रहस्यात्मक प्रवृत्ति आकाशवाक के प्रसव-काल की सबसे बड़ी व्याधि की एक रबीन्द्र नाथ धीर बिबेची साहित्य के मोड़ से अभिभूत मये कवि की मानुष्यता अपने वास्तविक स्वल्प का न पहचान कर काल्पनिक रहस्वानुवृत्तियों से खेलने में अपना पीरक समझती थी । मानवतामय जी पर भी यह नसा काफी गहृष्ट है । राष्ट्रीय उत्साह उनके जीवन का अहम घंटा रहा है और साधारणतः उसकी प्रभिव्यक्ति सीधी-सच्ची होनी चाहिये थी पर ऐसा प्राप्त नहीं हो पया क्योंकि इनकी रहस्यात्मक प्रवृत्ति मानुष्यता में रेंगकर प्रायः उनकी धोबमयी बाणी के मुक्त प्रवाह को बन्दक मैठी है ।

कहने वालों ने ठीक कहा है कि हिमकिरीटिनी का प्रकाशन समय से बहुत बाद हुआ है । हिन्दी की ऐमाष्टिक कविता के इतिहास में तां उसके पहरे को कोई धस्वीकार नहीं कर सकता । जीवन के स्मूल तथ्यों से मन के ‘असिधे धीममहल’ की घोर पीछ बठाने वाले कवियों में मानवतामय जी को कैसे भुलाका जा सकता है ? लेकिन ऐसी सम्पूर्ण कविताएँ जो अन्त के पृष्ठ पर धंकिष्ट रहेंगी धायद दो-बार ही है—कैरी और कोकिमा जवानी, मील कय बत्वर, धादि—बसे मधुर-बाव मरी पदम्बड पंक्तिमां धापको किन्तनी ही यिल पावेंगी ।

वासवदत्ता

‘वासवदत्ता’ की कविताओं का आधार

वासवदत्ता की कविताओं बटनाओं का आधार लेकर जसगी है—इतमें न

प्रबुद्धि में प्रकृति और प्रादुर्भूत का समय और अन्त में प्रादुर्भूत की विजय की मान्यता स्वीकृति है। इनमें प्रायः सभी में वन्य विचार की दृष्टिभूमि पर नैतिक धारणा की प्रतिष्ठित है।

साहजनास जी डिबेरी-गुप्त की परम्परा कवि है जिनकी प्रकृति सबै बहिष्कृत रही है। फलतः उनकी कविता में गुप्त की प्राकृतिकताओं की चेतना और उनकी प्रति नैतिक उत्साह है। ये दाना बात उस स्वभावतः ही गांधीबाबू से सम्बन्ध कर देती है। गांधीबाबू भाति के प्रतिष्ठित एक ब्रह्म भी है। पर साहजनास जी का उसके ब्रह्म से कोई सम्पर्क नहीं है। व ता गांधीबाबू के पारण है जो एक बार गांधी विचार जब प्रतीकों प्रकृति जवाहरनाम नाम बोध की जैसे नताया या डॉक्टर-प्रभियान जैसी बटनाया का जय-जयकार करत है दूसरी बार देश के प्राचीन त्पाम और तपस्या (धर्मिता) का गौरव-दान गात है। पहली धरती की कविताएँ भैरवी में संकमिती है दूसरी धरती की बासबदता में। अतएव बासबदता के प्रामुख में की हुई साहजनास जी की यह पापणा कि भैरवी के साथ मरी रचनायाँ का एक युग समाप्त होता है बासबदता में मरी कविताओं का नवीन युगारम्भ है' समय से दूर है। उनकी ये बातें रचनाएँ एक ही युग की हैं—उनकी प्रेरणा एवं प्रकृति में कोई मौलिक भेद नहीं है। बातों का कथन विषय भिन्न है परन्तु और दृष्टिकोण एक है। यह परातम जैसा सेने धर्मा कहा नैतिक है और वह दृष्टिकोण है नैतिक महत्त्व की मान्यपूर्ण स्वीकृति। कवि का हृदय जिस तरह डॉक्टर के पत्र पर पत्रत हुए माधो के गौरव को सादर स्वीकार कर हर्षोत्साह करता है उसी तरह मोतम का बासबदता के प्रसोभन पर विजयी देखकर उनकी विजय का जय-जयकार करता है। सादर यह कि बासबदता की प्रथिनाम कविताएँ एसी कथायाँ का सैकर बनती हैं जिनमें अन्तर्गुह है।

कवि का दृष्टिकोण

दस प्रकार की कथायाँ को तीन रूपों में उपस्थित किया जा सकता है— एक तो नाटकीय रूप में जिनमें दाना विराथा प्राचनायाँ के अन्तर्गुह का तीता चित्रण है। एसा करना उसी कवि के लिए सम्भव है जिसकी प्रकृति अन्तर्गुह की हो जितन अपनी मुख्य सत्ता में होने बान पत्रन और प्रबन्धन प्रकृतियों के समय का भ्रंश कर देता है जिसकी एक प्रकृति में मान्यदता की उदात्ता है और दूसरी में मोतम की प्राण-प्रतिष्ठ। दूसरा रूप हा सकता है नित्युत्साहक जिनमें नैतिक उपदेश प्रादि के लिए कथा का सरल रूप-बर्णन है जैसा कि मधिनो

परसु ब्रह्म के कुछ धारणाओं में हुआ है इसके लिए केवल वर्णन-विशेष की आवश्यकता है। इन दोनों का सम्बन्ध एक ही तरह का भी हो सकता है— इसके लिए यह मानस्यक नहीं कि कवि स्वयं उस प्रसङ्ग से होकर गुजरा हो लेकिन यह अनिवार्य है कि वह उस प्रसङ्ग को पहचानता हो और प्रसङ्ग में होने वाली धारणा को विजय को स्वीकार करते में धारणा का अनुभव करता हो। इस क्रोडि के कवि का धारणा प्रसङ्ग और उसके उपरान्त होने वाली विजय के बीच की अनुभूति का धारणा नहीं है—उसकी स्वीकृति भर का धारणा है इसलिए इस रूप में तीसरा और पहला नहीं मिलेगी परन्तु धोज और स्फूर्ति मिलेगी। वासवदत्ता के कवि का दृष्टिकोण ठीक नहीं है। वह इन कथाओं में विद्यमान मुख्य सत्ता के सम्बन्धकारी प्रसङ्ग का अनुभव नहीं कर पाया केवल धारणा स्वीकृत कर पाया है—जबकी कुन्ती और कर्ण कुलाम महामितिःक्रमण लगी में। लेकिन इसके साथ ही उनमें केवल बल-वर्जन मात्र भी नहीं है—उसके वर्णन में स्फूर्ति धोज और वाग्मिता प्रसंगिक है जिसकी प्रेरणा अनुभूति के नहीं बल्कि स्वीकृति के धारणा में है। वही सच्चे धारणा का दृष्टिकोण है और इसीलिए मैंने सोहननाम की को लक्ष्मीका का कारण कहा है।

ऐसी रक्षा में वह स्वानाधिक ही है कि वासवदत्ता की रक्षी स्वयं-संकेतयमी न होकर सुखर है। संकेत धीरे धीरे के द्वारा प्रभाव उत्पन्न करने की सूझ क्या उसके कवि में नहीं है—इसलिए जहाँ संकेत मात्र वाग्मिता वा वहाँ कवि सविस्तर वर्णन कर प्रायः प्रभाव को वह कर रहा है। उदाहरण के लिए वासव दत्ता की कविता वहीं समाप्त हो जाती चाहिये वी जहाँ वासवदत्ता के पुष्प पर कि 'कील' ? पीठन उत्तर देते हैं—

ये हूँ लक्ष्मी

धाम धामा हूँ प्रतिभि बन ।

परन्तु कवि को इतने से संतोष नहीं ? वह धामे बीतम के लक्ष्मी का सविस्तर वर्णन देकर क्या के मादकीय प्रभाव को नष्ट कर देता है। इसी तरह वहाँ कोई पाषाण मीन वा स्वयं के द्वारा प्रतिपत्ती को तिलमिला सकता वा वहाँ वह धारणा एवं पुष्पवर्णन की पूर्ण सूची समाप्त करके ही धाम होता है। जबकी धीरे धीरे का प्रसङ्ग का प्रसङ्ग संवार हमरा छाती है। यह हुआ मुख्या का दोष मुखरता का पुष्प है प्रसङ्ग धारणा-प्रभाव को वासवदत्ता में अनिवार्य-मिसा है।

घार इरावती

कवि दिनकर की एक मार्मिक वक्ति है—'गीत प्रवीत कोन कुम्हार है ?' गीत और प्रवीत क बीच एक और भी स्थिति है—घर्षणीत की। गीत का मातृव्य प्रत्यक्ष अनुभव-बन्ध है। प्रवीत का सम्पत्ता-बन्ध। किन्तु घर्षणीत का मातृव्य कियमा कस्तु है। उसमें जो गीत है वह प्रवीत का संवेत लेकर घसहाम मैन हो जाता है। विश्व के साहित्य में ऐसे काम्य घनेक है जो घर्षणीत हो रह गये। भारत में ब्रह्मर है कि बाण की काव्यवरी घारिसमाप्त ही रह गई थी—घंत में उनके पुत्र ने उसे पूरा किया। एक किवदन्ती के अनुसार बन्ध भी गवनी जाने से पूर्व रासो को घपने पुत्र जस्तुन क हाथ सीप गये थे 'वुस्तक बस्तुत ह्यन्ध से ये घग्जन नुब काम। किन्तु घाज तो वह भी संभव नहीं है। यदि कोई ब्रह्मरा प्रयत्न करके घपूर्व को पूर्ण कर भी दे तो एक ठा वह भिन्न कृति होगी—और दूसरे सद्बुध-समाज उसे क्या स्वीकार करेगा? इस दृष्टि से ये घपूर्ण कृतिमा घपनी घपूर्णता में ही महत्वपूर्ण है।

प्रचार की का उपन्यास इरावती उनके जीवन के समान ही घपूर्ण रह गया। वह उनका तीसरा उपन्यास था—इससे पूर्व उनकी बहुसुखी प्रतिभा घनेक काव्यों नाटकों तथा कहानियों घारि के घतिरिक्त कंफाम प्रीर विठली उपन्यासों का भी सृजन कर चुकी थी। ये दोनों उपन्यास घामार्मिक थे—पर प्रचार की की प्रतिभा की सद्बुध क्केड-भूमि तो भारत का स्वर्णिम इतिहास था। उन्होंने घपने नाटकों में घनेक ऐतिहासिक कव्यों का अनुसन्धान घबवा घुमराक्याम प्रस्तुत किया है। स्कन्दगुप्त चन्द्रगुप्त घारि की विस्तृत गवपणारमक भूमिघारें उनके घुपठलव प्रब और ऐतिहासिक घस्तदृष्टि की साधिली है। इतिहास के बिघरे मुर्षों को क्यन्वित कर उस कंफाम में घ्राण-प्रतिष्ठा करने में उनकी क्यन्ता विघप रूप न रमती थी। किन्तु नाटक में क्यन्वित् जग घादिन घबराय नहीं मिस पाया—और इसमें सन्देह नहीं कि हरपा में गच्छित नाटक क मोमित क्यन्वर की घपघा उपन्यास का घराण्ड बिगार इन प्रकार के बन्धना-बिधाम क घधिक घनुष्ण है। प्रचार क नाटकों क घप्येता क मन में घनाघास ही यह

त उठ घायी थी—धीरे वह वास्तव में बहुत दिनों से उसके किसी ऐतिहासिक पन्ना की धागा मयाये बैठा था। वह घाटा इरावती में प्रतिष्ठित हो रही थी खु ईश के विषय से वह प्रभुर्ष ही रह गयी।

इरावती के केवल ? व पृष्ठ प्रकाशित हुए हैं—इतने ही लिखे गये थे। संभव था कि प्रकाशक से पूर्व सम्पादन करने में एकाग्र पृष्ठ छोड़कर भी को कही उपयुक्त विराम देने का प्रयत्न किया जाता परन्तु ऐसा नहीं हुआ—अंतिम पन्ना तक प्रकाशित कर दिया गया है। प्रतिम वाक्य प्रचुर है 'कल्पित तथा धीरे धीरे प्रासंगिक स्थानों पर उलकाएँ जल रही थी। वर्षा कुछ कम

इरावती की कथा सीधे साम्राज्य के पक्ष पतन-काल से सम्बन्ध है जिसे डॉ० जायसनाम घाघि ने संस्कार-पुन कहा है। उस समय अतन्वयुग के पुन बृहस्पतिमित्र मयच के सिंहासन पर घायीन थे। सम्राट पचोके धीरे उतके द्वारा प्रवित मीर्ष-बंध का समय-प्रताप अत्या-सेप रह गया था। बीड राज्य की पहिला दुर्बलता धीरे पालक में परिणत हो चुकी थी। पश्चिम से मयच पूर्व में कर्ण से कारवैत धीरे इतिल से घाघ्यों के धाकमण का प्रार्थक बढ्या जा रहा था। जबर घाघर विद्रोह की घानि भी धीरे-धीरे सुलग रही थी—बीडों के विरुद्ध बाह्य-धर्म का विद्रोह बल पकड़ता जा रहा था। मयच-नरेप के सेनापति सामंत घाघि सर्वथा घकनुष्ट थे धीरे कुपक का बालाबल्ल ठमार हो रहा था। बृह सेनापति के कल्पकुम्भ में धीरेपति को प्राप्त हो जाने पर पुप्यमित्र सेनापति-नर पर आकर हुए धीरे उनका प्रतापी भारतव विरिधा का कुसपुन घनिमित्र को पक्ष तक निराम प्रेम धीरे निरुपेव साहसिकता का जीवन व्यतीत कर रहे था कारवैत से सोहा लेने के लिए महामायक त्रिपुक्त किया गया। कारवैत ने मयचम जिग की मूर्ति मोटाने के बहाने मयच-नरेप का बाह्यन किया था— धीरे धीरे तथा किलाठी बृहस्पति ने उससे पृष्ठ संधि भी करती थी। पाटलि-पुत्र में प्रार्थक छाया हुआ था, गामरिकों में—विद्येपकर मन्त्रिक बर्ष में—मयचक मची हुई थी। ये लोप राजबृह की पहाड़ियों में धरण से रहे थे। यह ठो कथा का बाह्य पक्ष है। कथा के संतरंय पक्ष का सम्बन्ध इरावती से है। इरावती कथाविद् पाटलिपुत्र की मयच-नरंकी थी—जो घनिमित्र के प्रेम में पशकन हाकर महाकाल के मन्दिर में देववासी हो गयी थी। बृहस्पतिमित्र की दृष्टि उठ पर धारक्य से ही थी—एक दिन महाकाल के मन्दिर में देवता के सामने नृत्य-मिठ इरावती का बर्ष के नाम पर किलाधिता का प्रचार करने के

अपराध में बृहस्पतिमित्र ने मिसौली होने का आवेष्ट देकर बौद्ध बिहार में भेज दिया। अग्निमित्र न जा उस समय वहाँ उपस्थित था प्रतिरोध करने का प्रयत्न किया परन्तु इरावती ने स्वयं बन्दी बनने की इच्छा प्रकट की और और बिहार में बसी बसी। बिहार में एक रात को पूर्णिमा के समय से उद्घोषित होकर वह अनायास ही भाग उठी—और इन प्रकार सब के नियम का उल्लंघन करने के अपराध में उसे बिहार से भी हट कर अंत में बृहस्पतिमित्र के अंत पुर में धारा पड़ा। इरावती के अतिरिक्त उपन्यास की दूसरी मारी पात्र है कामिनी। यह खूबसूरत बारी मन्द-बंस की बन्धा है जो अग्निमित्र की सहायता से अपने पूर्वज मन्दराज की मिथि की कुली प्राप्त कर लेती है। स्वयं और यौवन से सम्पन्न कामिनी भीषों की सबु और अग्निमित्र पर आसक्त है। इन प्रमुख कथा-सूत्रों के साथ मिसौली हुई एक उपकथा और है जिसका सम्बन्ध अष्टि धनदत्त और उठकी स्त्री मणिमाला से है। इन उपकथाओं के कुछ पीरे-पीरे आपस में संबंधित होते जा रहे थे—और एक-दूसरे के साथ पाठ प्रतिपाठ करती हुई वे धारें बढ़ रही थी कि अन्तर्गत ही सारा खम बिगड़ गया और एक अत्यंत सख्त कुतूहलमय हृदय के बीचों-बीच कथा की गति सहसा रुक गयी। सम्प्रा के उपरान्त बाहनों के साथ-साथ राजि का अन्वेषण गहरा हो रहा है—बर्षों भी धारमत्र हो गई है। अष्टि धनदत्त के निवास-स्थान पर भांडगादि के उपरान्त संबोध की मोट्टी उभरी हुई है जिसमें तीन स्त्रियाँ हैं—कामिनी इरावती तथा मणिमाला और चार पुत्र हैं धनदत्त स्वयं अग्निमित्र एक बड़ा-बारी और एक अंधा-अंधा धातुलक। यह धातुलक स्वयं अपनी बीणा बाधन-कथा का प्रदर्शन कर रहा है—इतने ही में अष्टि-मन्त्र को स्वस्तिक इस के सैनिक धारकर घेर बैठे हैं और सूचना मिलती है कि यह बीणा पुत्र्य—बीणा प्रवीण धातुलक बन्धुवर्ती धारधर ही है। एक साथ लसबनी मच जाती है—अग्निमित्र धारवेष्ट की प्राक-रसा के लिए प्रतिधत्त होता है।—जग मही यक्ष्मा-पीडित मयावी कथाकार की उर्वरिणा और जाती हैं और मेरुनी एक जाती है।

इरावती का आचार इतिहास-गुण है। उन्नी प्रायः सभी मुख्य घटनाओं और पात्रों के लिए ऐतिहासिक सादर वर्तमान है। प्राचीन भारत के इतिहास का निर्माण मुख्यतः पुराण काव्य दास्य बौद्ध-जैन-नाट्य तथा विवादायों के आचार पर हुआ है। और इन पर आधारित सिद्ध ज्ञानकाल विवादी तथा मन्त्रधार के इतिहास-संध धारक हमारे सामने हैं। डा० मन्त्रधार की धारणा है कि बृहस्पतिमित्र—जिसका अंतर्गत रूप अष्टिधर बृहस्पतिमित्र है उस दिन राजाओं में से या अष्टिधर कथाधिर् मोर्ष-आप्तान् के अथ-वर्तन राम में मय

पत्नी मणिमाला जैसे भ्रष्ट और भ्रष्ट-वर्तिका उस युवक के निकट-वर्ग के प्रति निविष्ट है—वे व्यक्ति न हाकर कदाचित् वर्ष-प्रतिनिधि है। इसी प्रकार कास्मिरी जैसी राजकुमारियों का अस्तित्व भी उस युग में महान् सम्पत्तीय है जो अपने पर श्रुत बंध का प्रतिशोध देने के लिए राजनीतिक कुचक्रों में सक्रिय भाग लेती थी। सब सेन रहे दो पात्र ब्रह्मचारी और इरावती। इरावती उपन्यास की नायिका है और ब्रह्मचारी के हाथ में उपन्यास की कथा का मूल उद्देश्य-युव है।

इरावती का सृष्ट उल्लेख सामाजिक-आमिष में है—बहु सभ्यता आत्मिक की दूसरी राती है। नाटक में बहु बोल पात्र है और केवल दो बार उपस्थित होकर सामाजिक के विरुद्ध अपने ईर्ष्या-व्यभिक्त असफल स्वभाव का परिचय देती है। प्रसाद जी ने यह नाम तो निश्चयेह मही से लिया है—और बहुत सम्भव है इरावती ऐतिहासिक पात्र ही रही हो क्योंकि सामाजिक-आमिष की कथा निरूपण ही कास्मिरी के बहुत-कुछ समसामयिक इतिहास पर ही आधारित है। परन्तु चरित्र का विकास प्रसाद ने सर्वथा स्वतंत्र रूप में किया है—कहाँ कास्मिरी की ईर्ष्या परिमार्जन इरावती और कहीं प्रसाद की संयम संस्कार तथा कथा में अमंजुल इरावती। इस दृष्टि से यह सामाजिक के अधिक निकट है। परन्तु वास्तव में ये दोनों पात्र इरावती और ब्रह्मचारी व्यक्ति तथा वर्ग दोनों से भी ऊपर प्रकृति के प्रतीक हैं। इरावती भारत के प्राचीन वैभव की कथा-प्रकृति की प्रतीक है। उस युग में पुर-मुम्बरी के बरख की प्रथा प्रचलित थी ही। ब्रह्मचारी तेजस्वी श्राद्ध-उत्सव का प्रतीक है जो बीड़-वर्ष के विरुद्ध फिर अन्तिम-व्यवहार कर रहा था। काव्य-मनोविज्ञान की दृष्टि में इरावती राम-विराग में पुष्ट प्रसाद जी की कथा-दृष्टि की और ब्रह्मचारी उनका उस स्वल्प जीवन-वर्तन का प्रतीक है जो उपन्यास और संयम का पूर्ण समन्वय-रूप है। प्रसाद का सृष्ट कथाकार आत्माभिर्भोजन के लिए ऐसे दो पात्रों की सृष्टि सर्वत्र करता रहा है। इन पात्रों का भी ऐतिहासिक ही मानना चाहिए क्योंकि इनका अस्तित्व पाठ उच्च-वर्ग में ही परन्तु उच्च-वर्ग का अर्थ है—अर्थात् इनका यह विषय नायक या रूप चाहे न रहा हो परन्तु वे उस युग विविष्ट की प्रकृतियों का प्रतीक हैं। हमें सम्येह नहीं—इनमें इतिहास बुझाने में कोई विषय लाभ न हुआ हो परन्तु युग का इतिहास उठाने के ये अर्थ साधक हैं। वे उच्च-संस्कृत में महाकथा न होकर बातावरण तैयार करते हैं। और ऐतिहासिक कथाओं में अज्ञानों और नामों की अनेकानेक बातावरण का महत्त्व ही अधिक है क्योंकि इतिहास की आत्मा नामों और अज्ञानों में न रहकर बातावरण में ही निहित रहती है। प्रसाद जी की ऐतिहासिक दृष्टि इस माय में परिचित थी। उन्होंने विधातयों के लिए लिए

इस इतिहास-कर्मों पर निर्भर न रह कर काम्य शास्त्र तथा पुरातत्व-सम्बन्धी
 बहिनियों के सम्बन्ध-मनन द्वारा प्राचीन भारत की धारणा में प्रवेश कर उसके
 संस्कार अपनी धारणा में रमा लिये थे। उनकी रोमानी मूलनात्मक प्रतिभा
 और प्राचीन भारत की धारणा में इस प्रकार तादात्म्य स्थापित हो गया था।
 इसीलिए बातावरण की सृष्टि में उन्हें सहज दसना प्राप्त थी। प्राचीन युग की
 प्रभुत्वों का जीवन्त वर्धन प्राचीन नाम-उपाधियाँ तथा रीतियाँ प्राचीन
 शास्त्र के पारिजातिक घन्टों में सम्मिलित उनकी संस्कृत-निष्ठ भाषा—ममी का
 समे विभिन्न योग रूढ़ा था परन्तु यह यान्त्रिक जिम्मा नहीं थी। इन तत्त्वों
 : संयोजन मात्र ने युग का इतिहास नहीं जमाया जा सकता। इतिहास
 धारणा को जन्म देने के लिए अपनी धारणा में ही उसे रचाना पड़ता है। प्रसाह
 ऐतिहासिक कला का यही रहस्य था। इस दृष्टि से इरावती उनकी और
 ही कृतियों से भी अधिक सफल है। वास्तव में इस प्रपूर्व कला का सबसे
 स्वयं पक्ष यही है। अतः अनुप बृहस्पतिविभ पुण्यमिह शारदस्य प्रमिभिन
 बनी कासिन्धी धनदत्त त्रिमासा उत्पत्ता प्रायि व्यक्तियों के नाम
न विविधा रोहिदारण राजकुह मुम्भिरि, कुन्कुटाराम प्रादि स्वार्थों के
 नाम उचर बंध्य उपोसनात्तर, महास्वविर, धामनेरी संघाटी वीही बीड
 कर्म-सम्बन्धी धारणावनी तथा महाभारत सकि-विग्रहिक महादग्धनायक मुम्भ
 घटम राजनीति के धर—प्राचीन हिन्दू-नाथ का बातावरण उपस्थित करने
 में धर्यत उपवोनी सिद्ध होते हैं। और फिर प्रसाह अपने उन धरं स्थित
 संस्कारों की प्रेरणा से रोमानी कल्पना द्वारा प्राचीन रीति-नीति उत्सव प्रायि
 का इतना लटीक अनुभूति-मन्त्र बर्धन करते हैं कि समस्त बातावरण जन्ममय
 हो उठता है।

वेद्यकाल या बातावरण के परिवर्तित उपल्लाव के तीन प्रमुख तत्व और हैं
 कला-वस्तु, चरित-विशेष और उद्देश्य धारणा प्राधार-सूत्र पीवन-दर्शन। अपूर्व
 उपल्लाव के इन तीनों तत्वों के विषय में कथित के प्राधार पर कथनीय का
 अनुमान भर सनाया जा सकता है। जहाँ तक कला-वस्तु का सम्बन्ध है, इरावती
 प्रसाह की धारणा-वर्धन से तो क—उनके माटकों उपल्लावार्था तथा महाकाम्य
 प्रसाह की कला-वर्धन से तो क—उनके माटकों उपल्लावार्था तथा महाकाम्य
 तभी हैं—बहु प्रमुख दोष है कि शार्सनिक विस्लेषण और रम्य कल्पना-विभास
 के धारणों में कला उत्सव कर नतिष्ठ हो जाती है—या कञ्चु विग्रह-यव
 छोड़ कर इतर-उचर ऊँच जाती है। इरावती में प्रसाह जी ने धारम्भ से ही
 नयम से काम लिया है और कला के तूनों को कस कर हाथ में रखा है।

इरावती के १०८ पुंनों में बलिष्ठ घटनाओं में पूर्ण प्रवृत्ति है। मुख्य ऐतिहासिक कथा का सूत्र अभी बृहस्पतिमित्र के हाथ में है परन्तु धीरे-धीरे पुष्यमित्र के हाथ में आता जा रहा है। दूसरी कथा का सूत्र कामिन्वी के हाथ में है और तीसरी का कणाचिद् धनवत् के। नायक और नायिका धर्मिमित्र और इरावती धर्मी घटनाओं के भोक्ता-रूप में आते उठ रहे हैं—निर्यता और कर्ता दूसरे ही हैं। अभी तक इनके चरित्र की रेखाओं में प्रभार और रंगों में भास्वरता नहीं आई है। इनकी अपेक्षा पुष्यमित्र ब्रह्मचारी कामिन्वी तथा अपने ढंग से धनवत् के चित्रों की रेखाएँ अधिक पुष्ट हैं—कामिन्वी का चित्र सबसे अधिक भास्वर है। उद्देश्य की दृष्टि से इरावती में भीड़ और आर्य (पैव) वर्धन का संघर्ष और आर्य-वर्धन की श्रेष्ठता का प्रतिपादन है। प्रसाद जी की अपनी चिन्ताशास्त्र में विवेक-मूलक बुद्धबाह और प्रवृत्ति-मूलक धान्यबाह का उच्च आरम्भ से संक्षिप्त होता है। धार्मिक नाटकों में—सजातसप्तु आदि में—भीड़-वर्धन की विस्म-कदसा भावना के साथ समझौता करने की बोझी-सी प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है परन्तु कामायनी तक आते आते वे पैव-वर्धन के धान्यबाह को पूर्ण प्राप्ति के साथ स्वीकार कर लेते हैं। इरावती में यह प्राप्ति और भी स्पष्ट हो जाता है।

(१) इस शैक्षिक दम्भ के प्रस्ताव को आर्य जाति से हटाने के लिए आत्म-की प्रतिष्ठा करना होगी।

(२) आर्यों और उन्मत्त-उन्मत्ता प्रकाश संज्ञा जिनमें त्याग और प्रवृत्ति अपनी स्वतन्त्र सत्ता भंग कर सकते नहीं। विचार का उन्मत्त परम संस्कार की भूमिका पर नय करता-सा बीज पड़े, सबको प्रतिगत करके आत्मा का आत्म स्वस्थ भूद्ध और स्वच्छा रहे यह स्थिति क्या प्रच्यवी नहीं ?
 × × × कहीं अतिव नहीं सर्वत्र दिव । सर्वत्र आत्म ।

यह वास्तव में प्राचीन पैव-दशम का नवीन प्रगतिशील चिन्ताशास्त्र के अनुगत स्वस्थ पुनराख्यान है। प्रसाद जी के अनुसार इस युग की प्रथमा टिप्पणी भी युव का जीवन-मयस्या का यही समाधान है या धार्मी चिरंतनता में प्राप्ति और प्राप्तिशास्त्र में चिरंतन है।

उन्मत्त का पाठ समाप्त करत करते अनेक करस्य विज्ञानार्थ मन में उरुद्ध हल समती है। विज्ञानी बृहस्पतिमित्र का बीमा अंत हुआ ? पुष्यमित्र और धर्मिमित्र का क्या हुआ ? आर्य और कामिन्वी की जीवन-नीचा धर्म में दिन तट से जाकर टकरायी ? धर्मिमित्र और इरावती के प्रसन्न प्रेम का

क्या परिणाम हुआ ? इनमें से कुछ प्रश्नों का उत्तर तो इतिहास ही दे देता है। उदाहरण के लिए बृहस्पतिमित्र का बपु कर पुष्यमित्र सत्तासूक्त हुआ। धर्मि मित्र का जीवन भी वैयक्तिक धार्मा-निराधार्मी से उद्वसित हाता हुआ उत्तरप के पत्र पर घाने बढ़ा होगा और उत्तर धनेक धारतों को पार कर इरावती ने भी धर्मिमित्र के निवास बल पर शिष्टम लिया होगा। किन्तु कामिन्दी ?— उसकी प्रवृत्ति में इतना बेव है कि घन में कदाचित् धार्म-भात में ही उसका धन हुआ है। इस प्रकार की धनक कल्प-मधुर कल्पतारें मन में जगती हैं और बिनकर की ये पक्तिर्वा एक निश्वास के समान धनापाय ही छिन्न निकल जाती है— 'बोध धनीत कीन सुखर है?



पाँच सुखदा

हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में प्रमत्तत्व व्यक्तित्व नहीं सुस्था पड़े। उन्होंने अपने समय की सामाजिक और राजनीतिक चेतनाओं का सुन्दर-धर्म के हृदय भाषण पर समर्पित किया। वे अपने सामाजिक-नैतिक व्यक्तित्व के क्षेत्र पर हिन्दी उपन्यास पर कई दशाब्दों तक छाये रहे। परन्तु उनके प्रतिरक्षण भी हमारे उपन्यास में काफी है या नगण्य नहीं है। स्पष्ट रूप से वर्तमान हिन्दी उपन्यासों की प्रवृत्तियों का विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है

सबसे पहले तो प्रमत्तत्व में प्रभावित सुधारवादी सामाजिक-राजनीतिक उपन्यास आते हैं फिर उसके बाद प्रेरित व्यक्तित्ववादी उपन्यास हैं। तीसरा वह प्रगतिवादी उपन्यासों का है जिनका आधार है साम्यवाद। यद्यपि इस वर्ग के प्रमुख उपन्यासकार हैं। चौथे वर्ग को मनोवैज्ञानिक उपन्यास का नाम दिया जा सकता है। उनमें महाविश्वविद्यालय और काम की समस्या का मूल आधार माना गया है। इस वर्ग में वा नाम प्रमुख हैं अज्ञेय और इनामदार आदी। इनके अतिरिक्त ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा भी अभी चल रही है जिनके प्रतिनिधि हैं बुध्दाचलनाथ वर्मा।

जैन्स जी के उपन्यास दूसरे वर्ग में आते हैं या प्रमत्तत्व के समर्थक ही प्रमत्तत्व की बहुमुखी प्रवृत्ति के विरुद्ध आते हैं प्रेरणा प्राप्त कर उठ जाते हुए। या। सुदेश उनका तथा उपन्यास है या कोई परन्तु वर्ष के बाद लिखा गया है। इन बीच जैन्स जी के विषय और प्रसक्त कृष्ण निरास-से इनमें हमें यह पड़े कि कदाचित् यह प्रकाश बह्य्यात्वं है पर सुखदा में यह पता निम्न पर ही है उसकी एक बड़ी सफलता तो बही है। 'परम' के उतराल सुनीता कि स्वयं-गर्भ और उसके बाद कल्याणों यह एक सृष्टि का था। परन्तु में विचार आते या प्रतिभा के अद्भुत व्यक्त पड़े परन्तु अतिरिक्तता भा र्थी ही, सुनीता में जीवन है मत्तक रूप ही क्या है आत्म विस्तार तथा उन्माह और उनके साथ अपने प्रति सफलता भी वर्तमान है। 'व्याप-गर्भ में सुपनी प्रकल्पित हुआ गया है—अविश्वस्ति और पालन कला में निपुण—इसलिए अतिरिक्त सफल कल्याणों की गर्भ-रक्षा में कार्यरत वा आभास है। यह

विक्रम-व्रम स्पष्ट था और स्वाभाविक भी। 'बन्ध्याली' के बाब जेनेब्र जी ने विद्यालयक निबन्ध धीरे प्रस्तावर मिलना शुरू कर दिया था उसमें भी बन्ध्याली के पाठक को कोई अप्रत्याशित बात नहीं प्रतीत हुई। क्या सुखदा इसी व्रम में बन्ध्याली के बाब की रचना है? नहीं। उसमें एसा कापी कुछ है जो त्याग-व्रम से भी पहले का है। और कदाचित्त यह ठीक ही है कि उसका वारम्भ पहले ही हुआ था।

ब्रह्म जी के उपन्यासों में कहानी कथन निमित्त-मात्र होती है। सुखदा में जो उसका वही उपयोग है। यद्यपि उसमें त्याग-व्रम धीरे बन्ध्याली की अपेक्षा बढनाएँ निस्संदेह ही अधिक हैं मरुके भी अधिक हैं, कहीं कहीं कुरुरहम की भी सृष्टि हुई है।

सुखदा एक मनस्वी स्त्री है—उसका पहलू-कार ठीका है और आकाशाएँ प्रबल उसका विश्वास होता है मध्यम वर्ग के कान्त नामक व्यक्ति से जो स्वभाव से उठके सर्वथा विपरीत है। पति की निरीहता धीरे समर्पण मात्र उसके अहंकार का धीरे भी उत्तेजित कर देते हैं और सामारण सुहृद जीवन की संश्रीर्ष सीमा में उसका मन बुटने सयता है। हठाल यह कल्पितकारी बल से सम्पर्क स्थापित करती है जिसके नेता हैं हरिदा। उधी बल में एक सदस्य धीरे भी है—सात जो मानो सुखदा की धर्मस्था का उत्तर है। उसकी धर्मोत्त सक्तिता धीरे बाल्यकालीन स्वभाव निस्संदेह ही सुखदा को अपनी ओर बलपूर्वक पाकट्ट करता है। बल में सात के प्रति ईर्ष्या और सन्देह जायता है और सदस्य उसको खुद-ब-खुद देना चाहते हैं। परन्तु हरिदा सात का मुख्य जानते हैं और वे अनेक कारणों से बल मंच कर अपने को पुसिस के हाथ में जीपने के लिए तैयार हो ले हैं। उन पर पाँच हजार का इनाम है। कान्त हरिदा के बाल-बालु है वे उ-उ-उ के नैतिक ठरक देकर प्रसन्न में कान्त को इस बात के लिये तैयार कर लेते हैं कि वे जाकर पुसिस में सूचना दें। कांत निरीह मात्र से यह सब कुछ कर डालते हैं। हरिदा को बचान का प्रयत्न करते हुए सात बल के एक धर्म्य सन्देशजीम धर्मत्व प्रस्ताव की मोती से घाहूँ होते हैं और उनका विश्वास-पात्र सामो डाकू केदार इस पर-बकड़ में पुसिस की मोती से मारा जाया है। सात का क्या हावा है यह पत्राल है, परन्तु रहस्य का उद्घाटन होने पर सुखदा काण्ड से पीड़ित घरा के लिए विश्वास से लेती है। ऐहिक और आध्यात्मिक व्यासा से पीड़ित सुखदा धर्म रोम का विकार बन कर धर्म में सैनेटोरियम पहुँच जाती है जहाँ से वह पुनःपुनःपुन के रूप में यह कहानी लिपि-बद्ध करती है। परन्तु मैंने अभी कहा कि यह कहानी या निमित्त मात्र है। फिर उत्तव क्या है? सुखदा में मेकक

का मन घटनाओं में न रम कर मुझवा क चरित्राद्घाटन में ही रमा है। पाठक का भी रम घटनाओं में नहीं मिलता। मन क विरक्षेपण में न मिलता है। ता क्या मन का विरक्षेपण ही इस उपन्यास का उद्देश्य है? वास्तव में सेल्फ न आरम्भ से अन्त तक उसको इतना अधिक महत्व दिया है कि साधारणतः इस प्रश्न के उत्तर में 'हाँ' कहने का भोम हा जाता है। परन्तु जैनेन्द्र जी का यह स्वीकार नहीं होमा। वेदक यदि तटस्थ कलाकार माना जाता तो मन का विरक्षेपण भर कर बना उसक सिंग घनम् होता। किन्तु जैनेन्द्र जी का उद्देश्य नन्मा की निरक्षेपता नहीं हा सजता। उनक सिंग कला एक विधिष्ट प्रप्य अर्थ की माध्यम है। यह प्रप्य अर्थ है अहं का उत्सर्ग। जीवन की सबन बड़ी समस्या है अहं और सबन सफल समाधान है उसका उत्सर्ग। इस उत्सर्ग की विधि है आत्म-वीक्षण। मुझवा क जीवन की भी मूस समस्या उसका यही अहंकार है जिसक उत्सर्ग के लिए बहु घपने का हुठम् पीड़ा की अग्नि में दास देठी है। साधारण पाठक को लगता है कि आखिर इसमें बाहर भागा क्या मुक्तिम् है। पाड़ा बिकेक और बाड़ी-नी म्यात्रदारिक इच्छा-शक्ति उस इग अग्नि-कुण्ड से निकाल सजती है, परन्तु मुझवा बचमा पाहू तब न। का मा कहिए कि वेदक उसका बचन वे ठमी न। मुझवा के लिए ता जैसे यह अग्नि-परीक्षा ही जीवन है। अपने को पीड़ा बकर ही बहु घपन से बाग पा सजती है। वेदक के लिए भी कदाचित् यही घरण-भूमि है। इसी सिने उसन हम ही कला की अरम विधि माना है। समूच उपन्यास में आत्म-व्यथा की ही प्ररणा है। केवल मुझवा ही नहीं अन्य पात्र भी जैसे अघातक घपने का पुला कर या अघना निपघ करक ही प्राप्त की भार बड़ै है। गृहस्थ काय्य अघाती अन्तिकारी हरिया समाजवादी अन्तिकारी साम और डाकू केदार सभी क जीवन की एक ही साधना है अपनेपन का समर्पण। सभी पीड़ा का नाम रहे है। महात्मा भी की एक पक्ति है —

तुमको पीड़ा में डूँडा तुम में डूँडी भी पीड़ा।

मुझवा स्वयं और उनक सभी सहयोगी पात्र पीड़ा में हो मुक्ति डूँडत है। अन्तिकारी बस क मतर हरिया जीवन मर अन्तिक का संगठन करन के उपरान्त अन्त में एक प्रकर न समर्पण ही कर दत है। हिमात्मक सामाजिक अन्तिक का प्रकृता साम आनी भौतिक माध्यमाओं क बाबजूद घपने जीवन में गमपित डाकर ही रहता है। हिमाजोवी डाकू कदार का समर्पण इन न कम नहीं है। ये तो घान लिए और घपनी तख घ सोचव भी है कदार ने बहु अघिकार भी खंड दिया है। काय्य की अधुस्थ निरीक्षा प्रमन नहीं रह गई उत्तर ही बन गई

है। उसकी साधना में भी कठिनी मुक पीड़ा है, यह गुप्त नहीं है। परन्तु यह टोक है कि वह कर्ता न रहकर भोक्ता मात्र बन गया है। कृपा को चरम बटना का भोक्ता भी नहीं है बल्कि सूचना देकर हरिबा का निरपत्तार करता है। धीरे पाँच हजार का इनाम सेवा है। यह बटना धन धान न इतनी रहस्यमय है कि पाठक के मन में घासाना न नहीं बैठती। काल के चरित्र के साथ भी उसकी नकल नहीं बैठती। क्या काल जैसा व्यक्ति इतना निस्तब्ध हो सकता है? क्या काल हरिबा का बालबन्धु, उनके आदर्शों में सक्रिय सहानुभूति रखन वाला व्यक्ति इतना धनमन हो सकता है कि एक दम हिम्माटाइज होकर ऐसी भयंकर जबरदस्ती को धन ऊपर थोड़ से? हरिबा न समझना क्या नहीं कर दिया? इन तीनों में ही क्या का रूपों की उनक लिए तो कोई साधकता नहीं थी और फिर निकट पाँच हजार की रकम! मान लीजिए उमम बोझा भौतिक साम की हो परन्तु धारिमेय नैतिक हानि को वह कैसे बर सकता है? और यह नैतिक हानि कबल व्यक्ति की ही नहीं समाज की भी है। हरिबा जैसा धर्म्यात्म दर्मी न वह सब क्यों किया? वह धर्मका स्वामाधिक है, धीरे इसका समाधान बहन नहीं है। परन्तु मुझे सपता है मार्ता लैक न धात्म-पीड़ा की कसौटी मान कर ही इसका संचट प्रबोध किया है। धीरे का बनिहान भी धर्मकार का पूर्व उत्सर्ग नहीं है सामाजिक स्वीकृति—'धर्म' के मर्म में व्यक्ति ऐसा हँसते हँसते कर सकता है। धार्मिक मूल्य सदा है—सामाजिक मूल्य धरदा। हरिबा ने मर्म काम के लिए काया की बलि दे ली। मास के व्यक्तित्व की तीव्रता धन धान में एक बड़ा नशा की। परन्तु काल न बिबल मात्र उ बिना एनेस्वधिया के यह धर्मकर धारोसन कर लिया। इस बाल-बन्धु की निरपत्ताई के लिए पुनिस में सूचना देना धीरे वह भी जब कि उस पर इनाम हा। इसकी केवल एक ही सार्थकता हो सकती है धीरे वह यह कि लेखक ने इसे धर्म के उत्सर्ग की कसौटी बनाया है।

उत्सर्ग को इस भूमिका पर सुलबा के धर्म का विकास हुआ है। धीरे पाठ को धर्म का उत्सर्ग कर मुक्ति प्राप्त कर सते है, परन्तु सुखवा ऐसा नहीं कर सकी इसी लिये उसकी पीड़ा-उपस्था धर्मो बन रही है। साहित्य-शास्त्र का नियम है कि नामक कमी नहीं मरणा। नेपेथिष की प्रसिद्ध उक्ति है 'हीरोज नैबर डार्ड, यू नो। इसीलिए लेखक ने धनने उपग्यास के मुख्य पात्र की पीड़ा को नहीं मरने दिया धर्म्याता कहानी ही समाप्त हो जाती। सुखवा के मन की पीड़ा भी रही है। धीरे धाने बहूँ तो इसी को लेकर जैनेन्द्र की कमा भी रही है, या भी उठी है।

विचार और विरलेपण

मुलरा की घसी क विषय में मुझ कुछ गया नहीं कहता। जैन्य जी को घपनी सतर्क सहजता का धन गर्वित घामास हो गया है। उनके बचन की वह अम्यस्त विधि हा गई है। मुलरा में हाथ की सफाई और भी व्यक्त है। पर घसी का एक सीमित रूप भी है—अभिव्यक्ति। अभिव्यक्ति के दो अंग हैं उक्ति और भाषा। उक्ति कला है और भाषा शास्त्र है। जैन्य जी उक्ति-माहिर हैं। कला पर गंवा अधिकार कदाचित् ही किसी गद्य-शैलक का हो-घामर निराला का है। परन्तु भाषा बाला धंग जैन्य जी का कला है और उनके लिए जैन्य जी की घपनी शैलिक विषया धारणा ही उत्तरदायी है। वे कम अर्थात् नहीं हैं परन्तु शास्त्र क प्रति उन्हे अक्षम्य बनासा है। यह श्रेष्ठ हो है कि कला की अपला शास्त्र का स्थान निम्नतर है परन्तु शास्त्र का विरलेकार करने का अधिकार शैलक को नहीं है। जैन्य जी ने अपनी कृत्रिम सहजता के बाब में शास्त्र का विरलेकार किया है। इसी लिये उनके धनक प्रयोग स्वष्ट-अमुक्त संस्कार प्रष्ट और कही-कही घाम्य भी हा गये हैं

वह भी घपनी कृतों में घा गये।
वह कोष में हो उठे।
में दित्त घाई।

कह कर मुझ लयो हुई की जैपती पकड़ी।
कुछ विविध प्रयास भी देखिए

(१) कतिपय पुरुषों ने मिसकर कुछ प्रवृत्ति करने की योजना की। (२) संघ के सदस्यों के मतों का स्वल्प संशोधन होता है। (३) लेखन में देव लक्षी प्रसन्नता विषय की है। [विषय की" प्रयोग यहाँ धीनचारिक (अर्थात्) के अर्थ में किया गया है।] (४) इससे अवता ही व्यवहारे करतो चलूनी। घीने इनका उरील जानबुझ कर किया है क्योंकि इन्हे घाघानी है—घा बोके-मे भी परिघम से बचाया जा सफटा बा। इनमे कुछ बनता नहीं है, विपटता ही है क्योंकि यही व्यक्ति इन प्रकार की घानदार भाषा का भी प्रयोग कर सफटा है

(१) जीवन और मृत्यु के बीच का बहु भास—दोनों वालों एक होकर उत्तम विपल घाये घे।

(२) तिष्ठ एक रूप है घोर हर व्यतिक्रम घपरता।

(३) इन पर विराम का ध्यंग भी नहीं बा।

कुल मिला कर मुघरा जैन्य जी का मकल उनप्राग है, उसमें मुनीया की घपेदा स्वच्छता घोर मुखमता अधिक है परन्तु त्याग-गत्र का तीलापन घोर धार नहीं है।

४

‘बोल्गा से गंगा’ और ‘दिल्लेसुर बकरिहा’

घाब की या पुस्तकें हैं ‘बोल्गा से गंगा’ राहुन साङ्गत्यायन की कहानियाँ का संग्रह ‘दिल्लेसुर बकरिहा’ निराला जी का रचा हुआ एक हास्यमय स्केच। इन दोनों पुस्तकों में प्रकार और मूल विषय का कोई साम्य नहीं है परन्तु दोनों हिन्दी में अपने-अपने ढंग के दो नये प्रयत्न हैं।

‘बोल्गा से गंगा’ में मानव-जीवन के सामाजिक विकास का इतिहास है। एहम जी के घम्दा में मानव घाब जहाँ है वहाँ वह प्रारम्भ में ही नहीं पहुंच गया था इनके लिये उठ बड़े-बड़े सबपों में हाकर पुजरला पड़ा है। विशेषतः को बोब-बम्य और सहज-घाह बगल के लिए उन्होंने हिन्दी-सूरापीय जाति के इतिहास को चुना है।

विद्युत् २०० वर्षों में, ईसा से ६०० वर्ष पूर्व से लेकर जब मानव वास्पा के किनारे पर्वत कुहा में अपने सहज परमुषा के समान ही रखा करता था घाब तक अपने अस्तित्व का सुरक्षित रखने के लिये उसने जो संघर्ष किये हैं— उन सभी का इस पुस्तक में सरल और रोचक विवरण है। इस पुस्तक का मूल विषय मानव-शास्त्र और समाज-शास्त्र है। जहाँ तक मूल विषय का सम्बन्ध है कोई विशेष ही उसकी प्रामाणिकता अथवा अप्रामाणिकता का विचार करने का अधिकारी हो सकता है। मुझ जैसा व्यक्ति जिसने समित साहित्य की मजुर सीमा-रेखा से बाहर भ्रम कर गया-क्या ही देखा है उसके कुछ तथ्यों पर संदेह बकित होकर अका ही उपस्थित कर सकता है। उदाहरण के लिए वास्मीकि-रामायण का रचना-काल ही से मीजिए—विज्ञान सेवक ने उसे अस्वभाव से कुछ पहले से ही संघ-काल की रचना माना है। परन्तु यदि काव्य से सम्बद्ध महत्वपूर्ण परम्परा के विरुद्ध उनके पास कोई प्रमाण नहीं है, केवल एक क्षीण अनुमान भर है ‘कोई ताज्जुब नहीं, कवि वास्मीकि संघ-संघ के प्रतिष्ठित कवि रहे हों अथे कालिदास अथवा अथे विक्रमादित्य के और शुंग-संघ की राजधानी को महिमा अथे अथे के लिये ही उन्होंने जातकों के अक्षरप की राजधानी बापलुठी से बरत कर साकेत या अयोध्या कर दी, और राम के ल

में सुष-सम्राट् दुष्यमित्र या धर्मिमित्र की प्रशंसा की बंटे ही बंटे कालिदास ने रघुवध के रघु और कुमारनन्द के कुमार के नाम से विता-सुष काव्यमूल विक्रमादित्य और कुमारमुत्त की। —इसी प्रकार भारतीय नाटक को मूल प्रभाव की सृष्टि वापित करना एक बड़ी पुरानी बात का पुनरुत्थान है जो धाम सर्वथा प्रमात्य प्रमाणित हो चुकी है। सबसे अधिक धर्मिजननीय है उद्यम की का धम-विषयक सिद्धान्त कि धर्म कर्म परम-मपहारकों को प्राप्त स परम उपमान करने या धमसर देने क लिये है। धम के कारण धायक की सक्ति बढ़ गई है और वापित साधार हा गया है ऐसा मान लेने पर भी धायक-धर्म ने धमवा धायक-धर्म के सहायकों ने जान-बूझ कर धार्मिक धर्म का धमय-धम पर धार्मिकार किया है यह मानना तो सर्वथा धमम्भ है। सामाजिक धमस्था के धमुधार धर्म और वर्ण का विकास हुआ—इसे मानने स कौन इकार करेगा ? वेव ईस्वीय ज्ञान नहीं है वरन् एक काल विधय की रचना है जिनमें तत्कालीन राजाधा का यदाधान है—ठीक है। यह भी माना जा सकता है कि विश्वामित्र बसिष्ठ धार्मि ऋषियों की इन ऋषाधर्म ने धमसामयिक राजाधर्मों को सक्ति-संघम में सहायता की हा जन्हने धमना स्वार्थ साधने के लिये एसा किया हो—परन्तु वेव की सभी ऋषाधर्मों के पीछे ऐसी ही कुस्ति प्ररणा है यह धारणा सर्वथा मिथ्या है। प्रकृति के स्वयिक सौन्दर्य को देख कर वन क उन्मुक्त वातावरण में निवास करन वाले ऋषियों की जो बाखी विस्मय और धामत् से विभोर हा नाच उठी थी उसको एक साध ही स्वार्थ स प्रकृति कह देना धमुचित है। इसी प्रकार प्रवाहण न धम धायक-धर्म को निबिध्न बनात रहन के लिये उपनिषद् (धमनी) रहस्य की उद्भावना की—यह भी धमाम्य है। प्रवाहण कहता है—

“श्रुतिषो से किसी ने इन्द्र, बरुण ब्रह्म को नहीं देखा। धम वित्तों के मम में सभेह होने लया है।”

“ब्रह्म का स्वयम धर्म ऐसा बतसाया है कि कोई उसके देखने की मांग नहीं देव करेगा। जो धाकाय की प्रति देखने-मुनन का विषय नहीं धो यहाँ-बहाँ सर्वत्र है उसके देखने का सवास कसे उठ सकता है ? सवास तो उन साकार देवताधर्मों के बारे में उठता था।”

“बसिष्ठ और विश्वामित्र की नाय ने हुकार धर्म भी काम नहीं दिया किन्तु दित नाय को प्रवाहण लपार कर रहा है यह दो हुकार धर्म धाये तक रात्राधर्म और धामन्तों परम-धोषियों को पार उतारती र्हेमी। यह-कभी नाच को सोवा, धर्म धपु लपभ्य। इतीलिये इत दुइ नाच को लपार

किया है जिसे बाह्य और अन्तः प्रिय मिल कर ठीक से इस्तेमाल करते हुए ऐश्वर्य भोग्ये रहेंगे।"

वह स्वभावतः स्वयं से मूर्ख की घोर बड़बुद बाने मानव ज्ञान का स्पष्ट दर्शन में प्रयत्न है। यज्ञ की प्रतिष्ठा करने वाले वेद एक युग की सामाजिक व्यवस्था की प्रतिबिम्बित वे ब्रह्म की मूर्ख सत्ता का निरुपान करने वाले उपनिषद् दूसरे की। यह तो एक सद्बुद्ध सत्य है—संस्कृत दोनों का सुजन घोषक-धर्म की सहामता करने के लिये हुआ था यह एक चित्तच्छा मात्र है। यज्ञात के प्रति किसी न किसी रूप में मानव को सर्वत्र ही विज्ञासा रही है—घोर ब्रह्म-ज्ञान का इतिहास इसी विज्ञासा का प्रालेखन है। वास्तव में एक बहु विभिन्न दृष्टिकोण के प्रति धारण के कारण हुआ है। उद्भूत जी विविध रूप से यह मानते हैं कि जो पृथ्वी जनता के साथ रही है वे समाज की प्रगति का कारण हुई हैं और जो व्यक्ति वा व्यक्तियों की पोषक रही है वे सर्वत्र ही प्रतिक्रिया के लिये उत्तरदायी रही हैं और इसी को लेकर उन्होंने अपने सामाजिक इतिहास की रूप रेखा धाँकी है। अतएव यह स्वाभाविक ही है कि एक विशेष जीवन-धर्म के प्रति धारण होने के कारण जनका विवेचन भी कुछ बंधों में एकामी और अर्थात्मिक हो गया है। एक धारण की बात यह है कि धर्म का इतना घोर निरोध करने वाले राहुत जी के सामने जब बौद्ध धर्म का प्रसंग आता है तो उनकी धारणोपना सर्वथा विचलित पड़ जाती है। बौद्ध धर्म के अनीश्वरवाद और अनात्मवाद को ही लेकर उसको प्रगति की प्रस्था मान केना खोजी नहीं होना। यह ठीक है कि धारण में उसने जनता से बल प्राप्त किया था परन्तु फिर भी उसके घोर प्रतिक्रियात्मक प्रभावों का तो इतिहास आज भी गला फाड़-फाड़ कर घोषित कर रहा है। यह लेखक पर संस्कारों का प्रभाव है जो प्रायः सिद्धा और सिद्धान्त का विरुद्ध कर अपना अस्तित्व प्रमाणित करते हैं।

परन्तु यह तो इस पुस्तक का मीस पक्ष है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता है लेखक का व्यापक दृष्टि-विस्तार जो ८ वर्ष तक प्रगति मानव-जीवन के इतिहास का पूरी तरह साक्षात्कार कर उसको हमारे मानस के सामने प्रत्यक्ष कर सका है। इतने विस्तृत वेद-काम पर समग्रतः अभिचार रखने वाली दृष्टि हिन्दी के एक-आध विद्वान को ही प्राप्त होगी। और गौरव की बात यह है कि वह कहीं भी उमझ नहीं है—मानव-जीवन के विषय में पढ़ने वाले भिन्न-भिन्न संस्थाओं पर उल्टी हुई बड़ी सफाई के साथ १९६२ पर धा कर ही रही है। इस दृष्टि-विस्तार को सहामता मिली है लेखक के व्यापक पाण्डित्य से। पूरा तत्व, मानव-शास्त्र, समाज-शास्त्र, दर्शन, साहित्य और इतिहास के विस्तृत

पर्याप्तोपन के बिना यह सब सम्भव नहीं था। लेखक की धृज-सृष्टि का परिचय बनाकर ही सृष्टि से भी निमग्न है। इतिहास के प्रस्तर-गर्भों का बड़े शौगल सं जोड़ कर उसने प्रत्येक युग के नातावरण की सजीव सृष्टि की है। इन दृष्टि में प्राचीन हासिक काम की कहानियाँ तो सभमुच प्रसृत हैं। नाटावरण की सृष्टि के लिए लेखक ने तरफामीन सामाजिक राजनीतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का सफ़्त विश्लेषण करने के प्रतिरिक्त उनके अनुकूल प्रकृति-विशेषों का भी अंकन किया है। ये चित्र परमन्त सजीव और वैज्ञानिक हैं—इनकी रेखाएँ धरमन्त पुष्ट हैं और रस धरमन्त मनोरम। निम्न और विषा की कथाओं में बोम्बा टा क तुपार मण्डित विभिन्न प्रवेष्टों के बर्नन चित्र-कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इसके प्रतिरिक्त भाषा का प्रयोग भी रेश कास के अनुसार किया गया है—धार्मिक युग का मानव पूरे बाधक नहीं बाधता। पूरक संज्ञाएँ उसकी भाषा में नहीं हैं—वैदिक काल का मानव जो भाषा बोधता है उसमें वैदिक संस्कृत की सप्यावसी की प्रचुरता है—मुसलमानों के धारमन के बाध भाषा में परकी-कारसी का पुट धान सगता है। इस प्रकार काशी साधपानी में नाटावरण को उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है।

यह सब हल्ले हुए भी 'बोम्बा स बंगा' की रोषकला सीमित-सी रहती यदि इन कहानियों में कुछ इतिहास मात्र होया। परन्तु राहुम जी ने स्थान-स्थान पर मानवीय तत्व का धारोड कर इन कथाओं में रक्त और मांस भरने का प्रयत्न भी किया है जिससे वे हृदयपाही हो गयी हैं। हाँ यह धरमन्त मानना पड़ेगा कि ऐतिहासिक तथ्यों में मानवीय रस भरने का राहुम जी के पास कबल एक ही साधन है—सैरस जिसका प्रयोग बार-बार बुहुपया गया है। प्रत्येक युग के जीवन-नाटक के मूखपार-रुन में कोई एक प्रमो प्रमिका ही रसमन्त पर धर-तरिक्त हल्ले है, और कहानी के मध्य में उनकी प्रबाइ प्रम प्रीड़ावें विरोधकर बुम्बर्ना की बीछाएँ और अन्त में किसी न किसी रूप में उनका धरन्त जीवन में मय हो जाता—पटना चक्र में रस-संचार करता है। कहानी-कला की दृष्टि से 'बोम्बा स बंगा' के अधिकांश प्रयत्न धरमन्त हैं। विषय रूप में मुहास और साधारणतः नावरण तथा सुरैया का छाड़ कर रोष कोई भी प्रमय कहानी के पीरर वा अधिनापी नहीं डे। उनमें पटनाओं या मनोवृत्तिया क उरपात-गणन वा सर्वथा प्रभाइ है—धरम स्थिति का बही भी पठा नहीं है। और उनक निवे पुणतत्व क पक गिडान को वाणी टुठराना भी अनुचित हाया।

कन निताकर 'बोम्बा स बंगा' हिन्दा माहित्य के निवे एक कथा उपहार है। धय-मुन तक प्रमणित मानव जीवन की धरन्तता को धारणार भ्रंरने बाता

खुश भी की दृष्टि हिन्दी के लिये एक बरदान है।

‘पात्र की दूसरी पृष्ठक है निरामा जी का बिस्मैसुर बकरिहा।’ बिस्मैसुर बकरिहा’ निरामा जी के शब्दों में हास्य लिये एक स्केच है। इसका हीरो—और इसमें एक ही व्यक्ति है भी एक साधारण मनुष्य है—उसके जीवन-वृत्त में किसी प्रकार का रंग-रोमांच या किसी प्रकार की भी प्रसाधारणता नहीं है। उसके चरित्र की विशेषता ही सचमुच यही है कि उसमें बाहर से धाकटु करने वाली कोई भी विशेषता नहीं है—उसकी तस्वीर में एक भी रंग अशुद्ध या कुछ ऐसा नहीं है जो बटकीलेपन से भापको धाकटु करता हो। प्रत्यक्ष उसमें रस डूबने के लिये भापको बोझा गहरा कुछना पड़गा और मानव के अपने सहज-सामान्य रूप में बिचबस्ती पैदा करनी होगी। तब भापको बिस्मैसुर के व्यक्तित्व में एक धाकटवण मिलेगा। उसके चरित्र की सबसे बड़ी क्षमता यही है कि उसने जीवन को निबिबाह रूप में एक सचपं मान लिया है अतएव वह बीरतापूर्वक उसकी थोटों को उसके उठार बड़ाव को सहते हुए धामे बढ़ते रहने की शक्ति रखता है। उसे जीवन के प्रति निर्जीब मोह नहीं है। वह तो निर्भ्रांत हाकर बिना किसी प्रकार की हड़बड़ी या घबोहता के रचनात्मक शक्तियों का उपयोग करता हुआ प्रगति के पथ पर अग्रसर है—बाबायें प्राणी हैं, उसको तकलीफ होती है परन्तु बिचमित होकर हार बैठने की बात उसके मन में कभी नहीं प्राती। वह धैर्यपूर्वक उसको जीवन का एक अनिवार्य अनुभव मानकर फिर धामे बढ़ जाता है। और इधी लिये जीवन में एकाकी होकर भी वह व्यक्तित्वासी नहीं है। नाच के उपहास और जेसा का पात्र हो कर भी वह यही सोचता है

“क्यों एक दूसरे के लिये नहीं बढ़ा होता। बड़ाव कभी कुछ नहीं पिला। फिर भी जान रहते काम करता पड़ता है यह तब है।”

बिस्मैसुर के व्यक्तित्व का मूल्यांकन मेखक ने स्वयं ही बड़े सुन्दर और स्पष्ट शब्दों में किया है। मुनिये—

“हमारे सुकराल के जवान न भी पर इसकी क्रिमासको लचर न थी। सिद्धां कोई इसकी सुनता न था। इसे भूल-भुलवा से बिचलने का रास्ता नहीं पिला इहमिये यह अशकता रहा।”

इस प्रकार का निबिपाय स्केच इतना उपलब्ध और रोचक किञ्च प्रकार बन सका यह प्रश्न उठता है। वास्तव में व्यक्तित्व-निर्माण की सफलता का रहस्य उसकी सचाई और यथाव्ययता है। निरामा जैसे जो छायावादी होने के नाते और भावमय कविताएँ लिखते रहे हैं, परन्तु उनकी साहित्यिक प्रतिभा इतनी समर्थ है कि वह एक साथ ही दो सर्वथा विरोधी दृष्टिकोणों को

पर्यंत सफल रचना कर सकते हैं। परस्पर विरोधी तर्कों पर इतना सबल अधिकार प्राप्त हिन्दी के दूसरे साहित्यकार को प्राप्त नहीं है। उनके गीत गूँथे मुझे भावगत हैं वहाँ उनके स्वर और कहानियों में स्वच्छ वस्तुगत दृष्टिकोण मिलता है। प्रस्तुत स्केच की सफलता का सबसे बड़ा रहस्य है लेखक की एकांत तटस्थता। लेखक ने जिस कौमल के साथ अपनी सहानुभूति को संयत रखा है वह वास्तव में आश्चर्यजनक है, कहीं पर भी उसने अपनी तस्वीर क र्यों को मझकीसा नहीं होने दिया। प्रकृति की घोर भुला हुआ होने पर भी लेखक ने कहीं जीवन के संघर्ष का उपयोग नहीं किया है न कहीं विश्वेश्वर की रचनात्मक शक्तियों अपना उसकी सामाजिक चिन्तासूत्री का प्रचार ही करता है और न कहीं शोषक-वर्ग का काला पित्र खींचकर घोषित-वर्ग के इस शस्त्री के लिए करुणा का ही संचार करता है। इन सभी तर्कों को उसने बड़े सहज ढंग से अप्रत्यक्ष रूप में विश्वेश्वर के व्यक्तित्व में ही सम्मिलित किया है। व्यक्ति का सच्चा चित्रण प्रकृतिकृत ही से ही हो सकता है—विचार को अपना व्यक्तित्व सर्वथा पुनर् रचना करेगा तभी वह ईमानदारी से उसका मूल्यांकन कर सकेगा। और सचमुच मिराला जी ने यह सब कुछ इतनी ताबझानी से किया है कि वही उसमें गढ़ने या सिद्धा बिद्यप में छानने की कोशिश नजर नहीं आती। उनका अर्थ भी सहज रूप में—बड़े पारदर्शिता में अंतर्हीन अर्थ का ढग पर होता है। और इसके लिए एक विशेष कलात्मक संयम की आवश्यकता है जो कला का आत्म-नोपन की शक्ति प्रदान करता है।

किन्तु भी पुस्तक की सफलता का सम्पूर्ण भेद्य तटस्थता को ही दे देना गलत होगा। उसके लिये निरुत्साही का हास्य भी बहुत कुछ उत्तरदायी है—प्रेक्ष्यता तो स्पष्ट रूप से बहुत-कुछ हास्य की ही प्राथित है। और जैसे भी हास्य तट स्थता से सर्वथा भिन्न अपना असम्बद्ध तत्त्व भी नहीं है। वह उसका एक प्राण व्यक्त उपकरण है—बिना हास्य के तटस्थता भा ही नहीं बनती। जीवन में क सोच ही स्वल्प रूप से तटस्थ बह जा सकते हैं जो जीवन की विपत्तियों पर हँसने की क्षमता रखते हैं। विदेश में हम के हा मुख्य भव माने गये हैं—कल्प और हास्य। कल्प हमारे दृष्टिकोण को वैयक्तिक बनाकर हमें आसम्बन्ध की ओर प्राकृतिक करता है हास्य हम निर्वैयक्तिक बनाकर आत्मन से पुनर् करने का प्रयत्न करता है। दृष्टिकोण की तटस्थता के कारण ही हम रचना का हास्य न ता बाधित और मंरुत ही बन पाया है—और न उसमें ध्वंस या बहना की तीव्रता पार ही है। वह सर्वथा स्पष्ट और उग्रुक्त है, उसमें न किनी प्रकार की शक्ति है और न बाध जो दगा-पिटाकर बाराही और मुतायामियत माने की

“बिस्नेतुर बिना टिकट कटाय कलकत्ते वाली पाड़ी पर बैठ गये। इलाहाबाद पहुंचते-पहुंचते रैक्टर ने कान पकड़ कर उतार दिया। बिस्नेतुर हिन्दुस्तान की जमबामु के धनुषार सचिपय क्लान्ग भंग कर रहे थे कुछ बोले नहीं बुधबाम उतर घाये लेकिन सिटायल नहीं छोडा।

बिस्नेतुर बकटियाँ हिन्दी के मिये एक नई चीज है। इष्टिकास की यह तटस्पता उसस पहले केवल कुम्भी भाट में ही मिलती है। मैं समझता हूँ अभी एकांत हिन्दी क पाठक को उसका रस सेने में कुछ कटियाई पड़ेगी—घोर स्केच की समाप्त करने के बाद धायद वह कह उठगा कि कोई बात बनी नहीं। परन्तु ऐसा नहीं है।



सात

हिन्दी साहित्य का आदिकाल

समीक्षा के लिए इस स्वरूपा चयन मैंने सम्भवतः तथा ज्ञान-वर्धन के उद्देश्य में ही किया है। आलोचना ठा कबल एक प्रासंगिक क्रिया मात्र है। वास्तव में हमारे साहित्य का आदिकाल इतना उपजाऊ है कि उसमें प्रवेश करना चाहा रखता सम्भव नहीं है। उष्ण ऊपर ऐतिहासिक भ्रान्तिओं तथा प्रापा-विज्ञान सम्बन्धी उत्सर्गों का ऐसा सर्वकर जगद्वास छाया हुआ है कि सब को घाव करना परलब्ध दुस्साध्य हो जाता है। वह युग साहित्य के इतिहास में ही नहीं बल्कि इतिहास में भी सर्वकर घटावकता का दूग था। इसका अनुसम्पाठा इतिहास के लिए साहित्य के अंश में और साहित्य के लिए इतिहास के अंश में मटकता फिरता है। यही कारण है कि हिन्दी साहित्य के इस युग का इतिहास कबल अपूर्ण ही नहीं बल्कि भ्रान्तिपूर्ण भी रहा है। हिन्दी साहित्य के इतिहास पर के तीन प्रमुख स्वप्न माने जा सकते हैं। पहला स्वप्न 'सिद्धि-सरोज' है, दूसरा 'मिथ्या-विमोह' और तीसरा प्राचार्य मुक्त-रचित 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' है। इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण निस्सन्देह ही मुक्त जी का इतिहास है। वास्तव में यही सभ्य धर्म में साहित्य का इतिहास है। उसका यो-व धारण भी असुगम है। धारण भी अनेक इतिहास रूपक रूप से प्रकटा मिल कर उसके स्वभावपरम नहीं हो सकते। हमारा यह धर्म मुक्त जी की पौरव-स्वीकृति के प्रतिरिक्त हिन्दी के इस धर्म की निषेधता का भी दोषक है। क्योंकि मुक्त जी का इतिहास निस्सन्देह ही विरोध नहीं है। वह धर्म काय में सर्वथा पर्याप्त भी नहीं है। उसके आधिकार तथा प्राधुनिक काम दोनों ही अशुभोपपन्न हैं। यदि काम पर्याप्त ज्ञान के अभाव के कारण और प्राधुनिक काम अधिक उदात्तभूति एवं आचारमक तादात्म्य के अभाव में। प्राधुनिक युग तो हमारा अपना युग है। उसको समझने-समझने का समय भी है और धारण भी। परन्तु आधिकार वास्तव में एक समस्वा-युग है और वही पक्ष भी केवल ऊँची की हो सकती है जो प्राकृत, अप्रकृत, राजस्थानी आदि लक्ष्येय हैं। वह साहित्य के साथ ही प्रापा-विज्ञान और इतिहास तथा प्राप्य-विज्ञान के जोषपूर्ण सम्पर्क में प्रवेश करता है। "म हृदि म आशय हुआ प्रेमाव हिनेरी ।"

क प्रामाणिक अध्ययन के लिए विषय का न घबिक्कारे है। क इस बात के लिये सभी प्रकार श्रुतान्त है। उन्होंने अपने सत्कृत प्राकृत अपभ्रंश साहित्य तथा भाषाओं के विविष्ट ज्ञान तथा परम्परा-शोधक ऐतिहासिक दृष्टि का पूर्ण मनाबान के साथ अनुपयोग किया है और उसके परिणाम-स्वरूप या अध्ययन प्रस्तुत किया है वह निस्सन्देह अत्यन्त उपादेय है वह हमारे आधिकारिक कम्पन में अनेक समस्याओं का समाधान करता है अनेक महत्त्वपूर्ण रूढ़ियों का उद्घाटन करता है और उन बीहड़ में प्रवेश करने के लिए नवीन सरणियों का निर्माण करता है।

हिन्दी साहित्य के आधिकारिक में उन पाँच व्याख्यान का सम्मेलन है या बिहार राष्ट्र-भाषा-परिषद् के तत्वावधान में द्वितीय जो न इस विषय पर लिखे थे। इनमें से पहिला व्याख्यान अपभ्रंश के अपभ्रंश साहित्य के आधार पर प्रस्तुत विषय में सम्बद्ध भ्राष्ट्रियों की धार संकट करता हुआ द्विवेदी जी के अपने अभिमत की सूचना देता है। "इस प्रकार दशरथों से चौदहवीं सताब्दी का काम जैसे हिन्दी का आधिकारिक कहते हैं भाषा की दृष्टि से अपभ्रंश का ही बड़ा है। इसी अपभ्रंश के बड़ा के कुछ लोग अन्तर्कालीन अपभ्रंश कहते हैं और कुछ लोग पुरानी हिन्दी।" इसके प्रतिरिक्त उनके विवरण में यह भी स्पष्ट है कि यद्यपि उन्होंने अपने स्वभाव के अनुसार इस बात का पार पंकर नहीं कहा पर इस काम का नाम बीष्णाबा-काल उगत नहीं है। क भाषा की दृष्टि से इस अपभ्रंश-काल कहना ही पसन्द करते हैं। उन्होंने स्पष्ट लिखा है "जो एक साथ ऐतानैक और अनेक युक्ति-व्यक्ति प्रकरण मिल जाते हैं, वे बताते हैं कि यद्यपि गद्य और बोलचाल की भाषा में तत्सम शब्दों का प्रचार बढ़ने तथा या पर पद्य में अपभ्रंश का ही प्राधान्य था। इसलिये इस काल को अपभ्रंश-काल कहना उचित ही है।" विषय-वस्तु का दृष्टि में रख कर क राजकुल जी के सुभाष हुं नाम सिद्ध-सामन्त-काल का बीष्णाबा-काल की अपेक्षा उपादा पसन्द करते हैं। शिरीष व्याख्यान में द्विवेदी जी ने वर्तमान हिन्दी-भाषा तथा के तत्कालीन हिन्दी साहित्य का अपेक्षाकृत मूल्यता के ऐतिहासिक कार्यों का उल्लेख करके हुंसे दो-चार उपमध्य शब्दों के आधार पर हिन्दी-शब्द की भाषा की अनेक प्रकृतियों का विश्लेषण उपास्थित किया है अनेक हाथ पुरानी शब्दों प्राचीन हिन्दी के अनेक सामान्य शब्दों का स्पष्टीकरण हो जाता है। और बारम्बार में पुरानी हिन्दी की ही नहीं बल्कि भाषा, अक्षरों तथा वर्तमान हिन्दी की अनेक प्रकृतियों को समझने के लिये भी द्विवेदी जी की इन टिप्पणियों की उपा देता अत्यन्त है। तृतीय और चतुर्थ व्याख्यान में विद्वान् ब्रजान् शब्दांश

राज्य' पर विस्तारपूर्वक विचार किया है। इस अध्ययन की भूमिका के रूप में उन्हास कथा शक्ति-काव्य तथा राजी प्रादि सम्बन्धित काव्य-रूपों का भारतीय तथा ऐतिहासिक दृष्टि में विश्लेषण भी किया है। यह विश्लेषण हिन्दी विज्ञान में प्रथमिण एता-विषयक विचार का ता प्रत्य कर ही देना है उद्यक साथ ही पुष्पीराज-राजा राजमीन काव्य शक्ति-काव्यों तथा परबनों प्रबन्ध-काव्यों में प्रयुक्त घनक साहित्य-संविदा का सामिक विश्लेषण उपस्थित करता हुआ सम्पुत्रान प्रबन्ध काव्य क सम्पन्न क लिये एक नवीन माग का उद्घाटन भी करता है। राजा की प्रामाणिकता क सम्बन्ध में प्राचार्य जी न कुछ स्थापनायें भी की हैं वा तद् विषयक विज्ञानों तथा विषयज्ञों क लिये विचारणीय हैं। कुछ विनिष्ट स्थापनायें इस प्रकार हैं

"काव्य का मूल प्रथम सूक्त-सूक्ती-सम्बन्ध के रूप में लिया गया था और निम्नता अंत इत सम्बन्ध के रूप में है जतना ही वास्तविक है।"

"इन्होंने समझा है कि पुष्पीराज-राजो धारम्भ में ऐसा कथा-काव्य था जो प्रबल रूपसे उद्घाट-प्रयोग-प्रधान, प्रयुक्त-प्रयोग-सुक्तगोय रूपक था। उन्होंने कथाओं के भी लक्ष्य के धीर राजकों के भी।

"संयोजिता काव्य प्रत्येक निस्तम्बिगय कर से मूल राजों का सर्व-प्रधान अंत था। यद्यपि अपने वर्तमान रूप में यह बहुत-से प्रक्षिप्त अंतों के कारण विहृत हो गया है।"

जानी ऐतिहासिक कहे जाने वाले काव्यों के समान इतमें : धर्मज्ञ राजों में इतिहास और कल्पना का अंश और अिनयन का, विभक्त है।"

पश्चिम धर्मज्ञ पंचम व्याख्यात में हिन्दी के धादिकाल में प्रथमिण विभिन्न काव्य-रूपों का प्रामाणिक अनुसन्धान किया गया है जिसके प्रकाश में हिन्दी क परबर्ती काव्य-रूपों को समझने में बड़ी सहायता मिल सकती है।

प्रयुक्त विश्लेषण की दो दृष्टियों से समीक्षा की जा सकती है। विषय की प्रामाणिकता की दृष्टि से और लेखक की धातोचना-प्रवृत्ति की दृष्टि से।

पहली के विषय में मैं धारम्भ में ही अपनी अधममंता धीर उन्हेरी जा की समर्थता की वापसा कर चुका हूँ। उनको स्थापनाएँ निःसम्बन्ध ही हिन्दी साहित्य के इतिहासकार क लिये विचारणीय हैं। वे राजा के अनुसन्धाताओं के लिये प्रोत्साहन धीर उन्हेरीता का कारण बन सकती हैं। हिन्दी काव्य के विधाधियों का एक हाथ जान-बर्धन होता है। इस दृष्टि से मैं स्वर्न उपकृत हुआ हूँ। इस छोटी-सी पुस्तिका में हिन्दी के धादिकाल क विषय में बहुत-कुछ विनती है जो उपादेय है धीर एक प्रबिकारी धोचक से

प्रामाणिक भी होनी ही चाहिए। केवल विषय-सामग्री की दृष्टि से भी यह पुस्तिका हिन्दी साहित्य के निर्माण में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अभ्यास बाँटवी है। इसके सामे और कुछ करने का अधिकार केवल विद्यार्थियों को ही है।

प्रामोचना-प्रवृत्ति की चाड़ी-सी विवक्षना हम कदाचित् अधिक विस्वास के साथ कर सकेंगे। इस विषय में सबसे पहली बात तो यह है कि टिबरी जी की प्रामोचना-दृष्टि ऐतिहासिक तथा समष्टि-परक है। उनकी दृष्टि भारतीय वाङ्मय के विद्यालय शक्त की माना करती हुई बड़े परिश्रम से उन परम्परा-भूतों का दृढ़ निकालती है जिनके द्वारा इस महान् देश का प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य एकता में बँधा बना आ रहा है। उनकी हिन्दी साहित्य की भूमिकाने हिन्दी प्रामोचना की इसी महीन विद्या की धार संकेत किया था। आज वह दृष्टि और भी स्थिर हो गई है। इस व्यापक दृष्टि के पीछे टिबरी जी की व्यापक मानव-सहानुभूति की प्रेरणा रहती है। जैसा कि उन्होंने स्वान-स्वान पर कहा और लिखा है—
 “मानव-वाचा की प्रवृत्ति में सहानुभूति होना ही साहित्य का अरमोहेस्य है। सभी साहित्य द्विज-साधना बन सकता है अथवा बहु अश्व-साधना मात्र रह जाये।”
 इसीलिये वे सम्पूर्ण मानव-जीवन की पूर्व-नीटिका पर ही साहित्य और कला का अध्ययन करते हैं। हमारे साहित्य में पुस्तक जी न पहली बार साहित्य के कृत्रिम बौधों का सोड़ कर उसे मानव-जीवन के अखण्डतन सात प्रवाह के साथ मिश्रण का प्रयत्न किया था। परन्तु पुस्तक जी के लिये मानव-जीवन का अर्थ घिसित अन्ध-समुदाय का जीवन ही था। साहित्य के लिये वे उसी को प्राथमिक मापदंड ले उनकी दृष्टि में अन्ध-जीवन साहित्य के लिए अप्रासंगिक था। टिबरी जी ने समस्त अन्ध-जीवन के साथ ही साहित्य का मूल सम्बन्ध माना है। यह उनके युग-धर्म की आवश्यकता है। पुस्तक जी की कारण उनके अन्धे युग की उद्भूति थी। टिबरी जी हमी परम्परा-सम्बन्ध की उद्घाटना का प्रामोचना और साहित्यिक मन्वेपना का अरम-सिद्धि मानते हैं। अरम सिद्धि के विषय में तो हाथ हो सकते हैं परन्तु सार्वभूत के विषय में मन्वेप के लिए अवकाश नहीं है। हमारा अन्धना मत इसमें भिन्न है। साहित्य समष्टि की अन्धना दृष्टि की साधना ही अधिक है। उसका अध्ययन मूलतः इसी रूप में होना चाहिये।

घाठ

भगवतीचरण वर्मा के काव्य-रूपक

कई समय पूर्व भगवती बाबू ने दिल्ली विश्वविद्यालय की एक साहित्य-सोप्टी में कहा था "मैं मुझ रूप में उपन्यासकार हूँ, कवि नहीं—यात्र मेरा उपन्यासकार ही सबग रह गया है। कविता में सगाव फूट गया है। मेरी चारखा है कि साधुनिक हिन्दी साहित्य का जायका अपने-तनकी इस आत्म-समीक्षा से विषय सहाय नही होगा। हममें सन्देह नहीं कि भगवती बाबू हिन्दी के उत्कृष्ट उपन्यासकार हैं। उनकी 'विषमता' और 'दूरे-मदूरे रास्ते' हिन्दी के खरिष्ठ उपन्यास हैं। उनके एकाकी और बहानियाँ भी निरुपय हूँ सफल कमा कृतियाँ हैं। परन्तु उनका प्रथम प्रणय कविता के साथ ही तुम्हा था और आप जानत हैं कि प्रथम प्रणय का प्रेरक प्रभाव अधिवायन-मनीर एवं जीवन-म्यापी होता है। कतएव उनका कवि उपन्यासकार अथवा नाटककार न पीछे कमी नहीं रहा और न आज है। कवि तो बाल्य में उन लोगों का प्ररक रहा है।

भगवतीचरण वर्मा के काव्य का जन्म और प्रथम विकास छायावाद युग में हुआ। वह युग अपने मूल रूप में वैयक्तिक चेतना की सृष्टि का युग था। कवि का यह दो धराधरियों में—कमी काव्य और कमी नीति तथा आचार की कदियों में जकड़ा पड़ा था स्वच्छन्द अभिव्यक्ति में फूट उठा। इस वैयक्तिक चेतना के उग्र समय दो रूप थे—एक आन्तिक रूप जिसमें अहं की विस्वासमयी पनात्मक प्रवृत्तियों का प्राधान्य था—यह अहं की स्वनात्मक अभिव्यक्ति थी। दूसरा नास्तिक रूप था जिसमें अहं की विह्वलमयी प्रवृत्तियों का—संदेह, सर्व विरोध, शूला पंच आदि का प्राधान्य था। यह अहं का पंचात्मक रूप था। एक में अस्मा का सात्विक सुन्न-कोमल प्रकाश था। दूसरे में मन और बेह की राजसिक-तामसिक शक्ति। युग की परिस्थितियाँ पहले रूप के ही अधिक समृद्ध थी—युव-सुरस्य वाणी की अहिंसा उस युग की चेतना की प्रतीक थी। कतएव छायावाद में वैयक्तिक चेतना के नास्तिक अधिमानसिक रूप का ही विकास अधिक हुआ। पठ महादबी घाटि मुकुमार कदियाँ ने तो स्वभाव म

उस आत्मसात् कर लिया। प्रसाद और निरुमा जैसे उदात्त कवियों का जीवन की अंतर्मुखी साधना और उस पर आश्रित सुकृष्णतर कविमानसिक को ही स्वीकार कर लिया। परन्तु वेद का पथ भी अनभिष्यक्त नहीं रहा भी नहीं सकता था क्योंकि राजनीतिक और सामाजिक अक्षमता के युग में भौतिक कृष्णार्थ भी इतनी प्रबल थी कि उनका उन्नयन संभव नहीं था। स्वयं प्रसाद जी की कुछ कविताओं में निराशा की अनेक कृत्तियों और भगवतीधरणा बर्मा की अधिकशां रचनाओं में उस युग की वैयक्तिक की रक्त-मांस (रह) की प्रकृतियों का वासो मिली। बाद में बच्चन और अक्षय आदि कवियों ने भी इस स्वर को पकड़ लिया। मध्ये में भगवती बाबू की कविता के उद्भव का पुष्ठाधार नहीं है।

भगवती बाबू की कविता का प्राण-तल्ल प्रहकार है। किन्तु इसमें धारणा की अद्वैत स्थिति अथवा सोझ की अनुभूति नहीं है बल्कि भौतिक कृष्णार्थों से पीड़ित मन और वेद के अक्षम विरोध की हुंकार है। इस कवि की काम्य-चेतना का निर्माण बीसवीं सताब्दी के द्वितीय और तृतीय दशकों में हुआ है— जो प्रबल देश-व्यापी संघर्षों की विषमता के सारणी से १९२२ वर्ष भारतीय जीवन के लिए अन्तर्मन और आंतरिक विषम के वर्ष थे। इस में समष्टि-रूप में विस्वातमयी प्रकृतियों का संघटन करके गांधी के साथ विषमता का अहिंस में उन्नयन करने का अक्षम-अक्षम प्रयत्न किया किन्तु ऐसे व्यक्तियों का भी अभाव नहीं था जो विषमता के पुष्ठाधार के अभाव में उन्नयन की विता पाइ जीवन के प्रत्यक्ष अनुभव का रस और विष पीते रहे। भगवती बाबू ने इसी अर्थ की अंतता को वाच्य-वाची ही है। उन्होंने अथवा अथवा अथवा वा भौतिक अक्षम धारण नहीं किया—उनके संस्कार ही उनके अनुभूत नहीं थे हरिभक्ति के लिए भी तो भगवान की कृपा की अपेक्षा होती है। अक्षय प्रत्यक्ष अनुभव की धारणागत मूल मानव-कृतियों को ही उन्होंने अपनी कविता का विषम बनाया। स्वयं पाहंकार और अक्षय परिधि में संघर्ष करने वाली प्रम पृष्ठा वर्ष स्तानि धारि भौतिक मनाकृतियाँ प्रकृत रूप में अपनी सम्पूर्ण धारणी और कृष्णा को लिए हुए उनके वाच्य में अक्षम है। इस कविता का विचार पथ दुर्बल नहीं है किन्तु वह अनुभूति का सहज विज्ञान है—विचार का इस कविता में अनुभूति का मास प्रकृत-रे लक्ष्य है। इस कवि ने नहीं भी धारण विचार उधार लेकर अपनी अनुभूति की स्वच्छन्द मति को बांधने का प्रयत्न नहीं किया। इसी भी अक्षय संवृतिधारियों की तरह धार्मिक मनों का मास अथवा प्रकृति प्रदीपधारियों को तरह अक्षय-धारण या मनाविज्ञान का अक्षय का मास प्रकृत-रूप

रगात्मक सम्बन्ध स्थापित करने का पट्टा नहीं का। जीवन क टुक-मड़ गल्प पर कटु-मधुर अनुभवों का पूरी तरह भामता हुआ यह अनक विचारधारामा में हाकर पुकरता रहा है अर्द्धतवाय मानववाद मोधीवाद मात्मवाद नियतिवाद प्रभुतिवाद मर्मों में म वह बुकर चुका है परन्तु क्रिमा एक म न ना उगका अभिन्न कर लिया है और न बही क्रिमा एक का पकड़ कर बैठ गया है। हरिक विश्वास के प्रभाव में क्रमा भी उगने बौद्धिक विरबाम का धरना धरना पर बाउपस नहीं हान दिया। यह टीक है कि विरबाम क प्रभाव में जीवन क लय का माधात्कार सम्भव नहीं है और मत्व क माधात्कार क प्रभाव म प्रक्या और उपाक्या बानों म म क्रिमा का विराट लत्व की उरन्धि मम्भव नहीं है—अर्थात् व्यक्ति का सामिक प्रपवा माहृदिक क्रिमा स्तर पर महत्त्व की निधि नहीं हा मक्या। किन्तु विराट प्रपवा महत्त्व म नीच धरगतम पर भी यदि अनुनुनि के जीवनत मागत स्वमों म यह कवि अपन काव्य की सहज उपाता का बनाए रख सका है ता वह भी कम मक्यता नहीं है।

इस बाबार-कमक पर अब प्रस्तुत काव्य-रूपकों की ममीधा करना सहज हावा। ये काव्य-रूपक तीन हैं महाकाल शीपवा और कम। महाकाल प्रतीक-रूपक है। महाकाल चतना-विमिष्ट छछि-पुत्र का प्रतीक है। उमकी कल्पना में कवि ने विज्ञान और रमन बाना का माधय लिया है विज्ञान क अनुमार यह बहाइ छछि का एक बृहत् पुत्र है का संकृचन और वेस्तारण की क्रिया क कारण निरतर गतिशील है। किन्तु कमल छछि ता धन्वी गति मात्र है वह मृष्टि-विकस क इन मुपाजित कम को किस प्रकार पूर्ण कर मकती है? अतएव धार्मिक रमन क प्रभाव पर कवि न उमम चतना को अवतारणा कर सी है। छछि-पुत्र महाकाल क मर्म म कमल मृष्टि का उदय हाता है और प्राणि-भण्ड मानव धनन व्यक्तित्व में निर्मास क माध विनाम की प्रभुतियाँ सैकर उत्तरात्तर विकास करता हुआ अत में अपनी अहता में लट हा पाता है। मब कुछ किर महाकाल में विधीन हो जाता है। उम समय चतना बकी-सी परचित्त-मी महा-काल में मय हो जाती है और एक बार विस्तृत छछि-पुत्र निष्किय-मा रह जाता है जहाँ चेतना सार्ई हुई-सी है। इस प्रकार इन रूपक का ध्वन्यार्थ भवमम यही हुआ कि मृजन धमर है विनाय ही मर है। यह निरपय ही निरघावाक का प्रतिपादन है। भावना के धरातम पर यह रूपक मानव रूकार क पयजय की स्वीकृति है और कवि मंत में धमकार क इस बरदम में यही उपहमी रखा बूढ़न का प्रमन करता भी है। किन्तु जैसा कि मेने धारम्भ में ही स्वर कर दिया है यह कवि उरेश देन क लिए कमी काव्य-रचना नहीं

करता। जीवनानुभव की प्रबल प्रमिष्यक्ति ही इसका उद्भव रहता है। प्रायः का जीवन निराशा से आच्छन्न है। अतएव प्रायः का कवि निराशा के प्रवर्णन का उचीक प्रकृत मान करके भी समर्थ काव्य की सृष्टि कर हो सकता है। कम्यक होने के कारण महाकाल में भारतीय समात्मकता का तो बहुत-कुछ प्रभाव है क्योंकि वह तो कम्यक की परिधिपर्यन्त परिधीयता है, किन्तु प्रवर्णन प्रेरित कवि की ऊर्ध्वस्थित कल्पना ने काव्य के सम्पूर्ण क्षेत्र में प्रायः-वर्णन का संसार कर दिया है। गंभीर ध्वनि-वाणी से विभावित इन रेडियो-नाटक का श्रोता के मन पर अत्यन्त प्रबल प्रभाव पड़ा होगा। इसकी कल्पना में बिना मुने का सकता है क्योंकि कवि ने अपने विराट् अवाक कल्पना-विधा को नार-वाधीर्य में मूढ करने का अत्यन्त सफल प्रयत्न किया है। वस्तु-संयोजन की दृष्टि से ये ऐसे प्रथम दो नाटकों की अपेक्षा अधिक सफल मानता हूँ।

श्रीपरी में महाभारत के इस आन्वेषण का आधुनिक मनोविज्ञान के प्रकाश में आच्छन्न किया गया है। महाभारत के धाकाध में श्रीपरी की प्रतिहिता उम्का के समान उच्चरत है। धामिरकार इस सर्वमसी प्रतिहिता का मूल आधार क्या था—स्वभाव से कोमल नारी का यह विरूप कैसा था? भारत का आस्तिक हृदय ऐसे धर्मात्मी का महान् दर्प या मानव-स्वभाव के वैचित्र्य का ही एक अत्यन्त रूप मात्र कर स्वीकार करता रहा है। परन्तु आज का युव तो स्वभाव का भी कार्य-कारण-परम्परा से विस्मरण किए बिना समुद्र नहीं हस्ता बतन और अचेतन में बहु प्रत्येक मामिक घटना का कारण बूढ़ निकसता है। श्रीपरी की प्रतिहिता के पीछे भी एक निश्चित कार्य-परम्परा-गुणवत्ता थी। कवि के अनुसार श्रीपरी का जीवन अत्याचार का सचित पुत्र था। पहले तो पिता की प्रतिहिता का प्रतीक मान उसका स्वयंवर ही नारी के स्वयंवर-अधिकार पर कठोर व्यथ था—जीमाठा बन कर दुःख के अपमान का प्रतिघोष करने में समर्थ कोई भी पुर पुरस्कार के रूप में श्रीपरी का बरख कर सकता था—अपत्ति श्रीपरी का जन्मिाव एक बड़ पुरस्कार के प्रतिरिक्त और क्या था? फिर दुःख मरकर व्यथ कुम्ठी का वह आधीर्वाद था जिसके द्वारा उस पाँच पतिमें से भागी बनना पड़ा। और फिर विवाह के उपरान्त तो उसका जीवन पापनाशों और अपमानों का भीषण घट्टहाम ही बन गया। इस प्रकार श्रीपरी का विर-वैरिण नारीरत उमक अचेतन में बैठ कर निरन्तर पूजा और प्रतिहिता के विषय का सपय करता रहा—तो महाभारत पर विपाकत घूम बन कर छा गया। सामान्यतः हमारे विरत्वामय संस्कार श्रीपरी के स्वयंवर का पिता के धर्म-प्रेम और वच पतिवरण का मातृ-वर्धन का प्रतीक मान कर ग्रहण करते रहे हैं। आस्तिक कवि

के लिए पंचपतिव्रत में उसका मौरव पंचगुण हा जाता है—'जय भारत' का कवि
कृष्ण के भीमुख से द्रौपदी की प्रवृत्ति में कहता है

बहिष्मता पातिव्रत पाता यहाँ विद्वाने
मेरी उस एक द्रौपदीधामिनी बहिष्म की
वर्षणा का कर्षणा का यह परिस्थान है । (जय भारत)

फिन्तु इतनी आसिद्धता क्या आज साधारण मम्मथ है ? भगवतीचरण
वर्मा की द्रौपदी चरण विरागा की स्थिति में जीवन के निर्मम धर्म्य के रूप में
पंचपतियों के पातिव्रत का आधीर्भाव (?) ग्रहण करती है । क्याचिन्त यही
आख्यायिका इस युग के अधिष्ठासी मन के अधिक अनुकूल पड़ता है । द्रौपदी के
व्यक्तित्व का संतुष्टिपूर्ण करने के उपरान्त कवि फिर एक प्रश्न करता है, मीरा
प्रतिहिंसा की प्रतीक होकर भी द्रौपदी पुण्या कर्म प्रकार हुई ? द्रौपदी के
जीवन-नाटक का बीज इसी प्रश्न में निहित है । कवि स्वयं इनका समाधान नहीं
कर पाया—बहु यह बहु कर मोल हो जाता है कि

वर्ष की रही हो तुम यदि कठोर प्रथम पुष्टि
तुम ही स्थित केवल पतियों की प्रतिष्ठाया सी ।
तुम ही मानव की सर्पाबा की परम पुष्टि ।
घोर यह विनाश नहीं मानव का युग का था
उस युग का अन्तर्धर्म में घुसा घोर वर्ष मान ।

यह कोई समाधान नहीं है । परन्तु मैं तो आश्चर्य में ही कह चुका हूँ कि
इस कवि से आप समाधान की आशा न करें—इसके पास समाधान नहीं है ।

वर्ष इस संग्रह का सब से प्रथम नाटक है । प्राकृत अहंकार का यह युग
पौराणिक पार्श्व में सबसे अधिक कर्तु को ही प्यार करता रहा है । कर्म
परिस्थिति द्वारा परामुक्त व्यक्ति के अहंकार का जीवन्त प्रतीक है । क्याचित्
भारतीय इतिहास में इस दृष्टि से उसका व्यक्तित्व अद्वितीय है । इस नाटक में
भी भगवतीचरण ने ऐतिहासिक चरित्र का मार्मिक पुनराख्यान प्रस्तुत किया है ।
टीर्थ में अप्रतिम कर्तु का अहंकार सामाजिक विरुद्धकार से पराभूत है । कुन्ती
की स्वीकारोक्ति उसका परिलोचन न कर, उसने आत्म अस्तित्व की दसमवीं
वैतना बजाकर भी भी कटुता उत्पन्न कर देती है । बहु राम और चारित्र्य
के द्वारा इस परामर्श का भी उल्लेख करना चाहता है किन्तु राम के लिए अपे
क्षित साहित्यिक विषय के अभाव में उसे सफलता नहीं मिलती—उसकी राम
मीनता इसी मर्कवाणी अहंकार की अधिष्ठासि मान्य होकर रह जाती है ।
रानी के लिए तो यह का राम पड़नी गर्न है परन्तु कर्तु उममें सममर्ष रहा

इसीलिए उसका जीवन केन्द्र श्रुत उत्का-विषय की तरह निरन्तर चलता रहा । कृष्ण के द्वारा घेत में कवि ने कर्ण के अपने चरित्र-दोष का ही उसके पतन के लिए उत्तरदायी ठहराया है और यही ध्वनित करने का प्रयत्न किया है कि अहंकार का नाश अनिवार्य और ध्वस्त है किन्तु वह बुद्धिबल समाप्त मात्र है । इस नाटक के प्रासंगिक उस का प्रकृत है कर्ण के अहंकार के प्रति कवि का अदम्य आकर्षण कर्ण की अहम्यता—इस पर मैं भ्रम्य हूँ ।” यही युग-भाव जो कर्ण के अहंकार के साथ कवि का व्यक्तिगत चेतना और युग की समष्टिगत चेतना के तादात्म्य की प्रबल अभिव्यक्ति है इस ध्वनि-लयक का रस-साध है ।

अपवर्गीकरण बर्मा में चित्र का अपेक्षा कला अधिक है—और स्पष्ट चर्चों में उतकी कल्पना सूक्ष्म अवयवों से मिलित बना करने का अपेक्षा नाटकीय स्थिति चारित्रिक दृष्टि मादि को उद्भावना में अधिक सफल होती है । काम्-सामग्री—अर्थात् आसंकारिक प्रभावण चर्च-संबंधित मादि का वैभव उतक प्राप्त नहीं है, परन्तु मादय प्रभाव बल व्यंजना मादि के से घनी है ।



